UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178849

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 T421 Accession No. H 3169

Author तिवारी, भगवतीचन्द्र

Title इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 1958.

This book should be returned on or before the date last marked below.

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास

(आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक
बलभद्र तिवारी, एम० ए०

दिल्ली
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

प्रकाशक
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
चांदनी चौक, दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९५८।

मूल्य : तीन रुपये पचहत्तर नए पैसे

मुद्रक :
डिलाइट प्रेस
चूड़ीवालान, दिल्ली।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

के

कर-कमलों में

निवेदन

सागर विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत एम० ए० के एक प्रश्नपत्र के स्थान पर एक लघु प्रबन्ध लिखने की व्यवस्था पिछले कई वर्षों से रही है। इस व्यवस्था का लाभ उठाकर एम० ए० के विद्यार्थियों ने अनेकानेक प्रबन्ध लिखे हैं, जिनमें से कई प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन प्रबन्धों में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उपलब्ध सामग्री का उपयोग करते हुए नये तथ्यों का सन्निवेश भी किया जाय जिससे प्रबन्ध में अधिक उपयोगिता आ सके। कभी-कभी एकदम नई भूमिका पर भी ये प्रबन्ध लिखे गये हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास-साहित्य पर लिखा गया है। इसके लेखक श्री बलभद्र तिवारी हैं, जिन्होंने विभागीय प्राध्यापक श्री गंगाधर भा के निरीक्षण में यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। जोशी जी के उपन्यासों की जो व्याख्याएं अब तक उपलब्ध रही हैं, उनसे सन्तोष न मानकर लेखक ने नई और कदाचित् अधिक समन्वित तथा गहरी साहित्यिक व्याख्या प्रस्तुत की है। हम लेखक के इस नवीन प्रयास को हिन्दी-पाठकों के समक्ष आशा और विश्वास के साथ उपस्थित कर रहे हैं। आशा इस बात की कि इसका उचित स्वागत होगा और विश्वास इस का कि इसमें एक नया दृष्टिकोण पाया जायगा। हिन्दी के साहित्यिक विवेचन को सम्यक् धरातल पर लाने में यह पुस्तक यदि रंचमात्र भी योग दे सकी, तो यह विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की तथा प्रबन्ध-निरीक्षक की सफलता और लेखक के कार्य की सार्थकता होगी। लेखक के प्रति अपनी शुभ कामनाओं के सहित हम यह पुस्तक पाठकों के हाथों में रख रहे हैं। इत्यलम्।

दीपावली
सं० २०१५

नन्ददुलारे वाजपेयी
(अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय)

वक्तव्य

"इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं" यह बात हिन्दी के क्षेत्र में इतनी बार दुहराई गई है कि उसने अकाट्य सत्य का रूप धारण कर लिया है। ऐसा कहने वालों ने न तो साहित्य के प्रति जोशी जी के दृष्टिकोण के साथ ही न्याय किया है और न मनोवैज्ञानिक उपन्यास की विशिष्टता के साथ। परिणामतः उनके उपन्यासों की प्रायः सभी समीक्षाएँ इस मौलिक भ्रान्ति से प्रभावित हैं। किसी लेखक का उपयुक्त अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके दृष्टिकोण और कृतित्व की विशिष्टता को निर्भ्रांत रूप में समझ लिया जाय। उस पर पहले से ही एक धारणा आरोपित करके चलना अपने प्रयोजन को मूल में ही निष्फल बना देना है। अतएव इस निबन्ध में साहित्य के प्रति जोशी जी के दृष्टिकोण और मनोवैज्ञानिक उपन्यास के मौलिक रूप के अध्ययन को एक साथ प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में जो नए तथ्य उद्घाटित किए हैं, उनके गंभीर महत्व की ओर जोशी जी ने बारम्बार हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। संभवतः इसीसे उनके उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक होने की बात चल गई है, किन्तु मनोविज्ञान के प्रति आग्रह जोशी जी के दृष्टिकोण का केवल एक पक्ष है। उसके दूसरे पक्ष में वे सामाजिक यथार्थ को सम्मिलित करते हैं। मार्क्सवाद का उन्होंने इसलिए विरोध किया है कि वह केवल सामाजिक यथार्थ में सीमित रहकर महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक पक्ष से विमुख रह जाता है। इस प्रकार वह केवल अधूरा यथार्थ है। कलाकार का कार्य जीवन को

उसकी समग्रता में देखना है, इसलिए अपनी कृतियों में उसे सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों पक्षों की समान प्रतिष्ठा करनी चाहिए। मनोविज्ञान के प्रति विशेष आग्रह का कारण यह है कि वह विशेष उपेक्षित रहा है, किन्तु उसमें भी जोशीजी की सीमा बांध देना उनके साथ अन्याय होगा।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास अपनी परिभाषा से युक्त एक विशिष्ट वस्तु है। अपनी वस्तु और शैली में वह अन्य उपन्यासों से बहुत भिन्न होता है। उसमें चेतना प्रवाह का निरूपण होता है। इस कार्य के लिए इतिवृत्त या कथा की शैली नहीं अपनाई जाती। कथानक उसमें वर्जित होता है। लेखक कथाकार के रूप में कृति की वस्तु और पाठक के बीच में संयोजक कडी बनकर उपस्थित नहीं होता; बल्कि वह इस प्रकार अपनी वस्तु को प्रस्तुत करता है कि पाठक प्रत्यक्षवत् उसका अनुभव करे। जोशीजी की शैली स्पष्ट ही इससे बहुत भिन्न है। इतिवृत्त की पुरातन विधि को उन्होंने कसकर पकड़ा है। अन्तश्चेतना के स्तरों की अभिव्यंजना भी उन्होंने वर्णनात्मक ढंग से की है। इस प्रकार उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता से नितान्त विहीन हैं।

थोड़ा ही ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि जोशी जी के उपन्यासों में केवल वस्तु ही नवीन है, शिल्प पुराना है। केवल नई वस्तु के प्रयोग से उपन्यास के किसी नए रूप की उद्भावना नहीं हो जाती; अतएव जोशी जी के उपन्यास की मनोवैज्ञानिकता की बात केवल इस तथ्य पर आश्रित प्रतीत होती है कि वस्तु के रूप में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान से प्राप्त सामग्री का प्रयोग किया है; किन्तु इतने बड़े निर्णय के लिए यह तन्तु बहुत अकिंचन है। प्रस्तुत निबंध में इन तथ्यों की स्पष्ट धारणा के साथ जोशी जी के उपन्यासों को उनके वास्तविक स्वरूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। उसे जोशी जी की

कृतियों के पूर्ववर्ती अध्ययनों से विशिष्ट और अधिक महत्वपूर्ण बनाने के लिए यह पर्याप्त है।

जोशी जी के उपन्यासों को विकास की दृष्टि से देखने पर एक विचित्र विरोधाभास के दर्शन होते हैं। आरम्भिक कृतियाँ लगभग सम्पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक वस्तु पर गठित हैं किन्तु उनमें क्रमशः सामाजिक पक्ष का अधिकाधिक विकास होता गया है। परवर्ती कृतियों में तो मानवतावाद की व्यापक धारणा की झलक भी मिलती है। इस विकास के विरुद्ध कला की दृष्टि से, एक चरम स्थिति के बाद, क्रमशः ह्रास दृष्टिगोचर होता है। विचारों में विकास और कला में ह्रास—यह विचारणीय विरोधाभास है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जिन तत्वों का समावेश लेखक बौद्धिक क्षितिज के अन्तर्गत करने में समर्थ हुए, वे उनके व्यक्तित्व की पूर्णता में आत्मसात् नहीं हो पाये। ऐसी स्थिति कला के क्षेत्र में मूल्य के प्रश्न को विचारणीय बना देती है। इस निबन्ध में इन समस्त तथ्यों के व्यापक निरूपण के साथ उक्त समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है।

अपनी वस्तु की स्थापना के लिए जिस प्रकार के पात्र जोशी जी ने चुने हैं, उनमें भी एक प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ पात्र ऐसे मूल रूपों का कार्य करते हैं जिनकी पुनरावृत्ति कम-अधिक अन्तर के साथ उनके लगभग सभी उपन्यासों में हुई है। आरम्भिक उपन्यासों में जहाँ मनोवैज्ञानिक विशिष्टता से युक्त मूल रूपों को प्रमुखता मिली है, वहाँ परवर्ती उपन्यासों में उच्च सामाजिक आदर्श रखने वाले मूल रूप प्रधान हो गए हैं। कुंठा से सर्वोदय तक पहुँचते हुए जोशी जी ने अपने पात्रों के पारस्परिक महत्व को भी एकदम बदल दिया है। उनके कृतित्व पर विचार करने के लिए इस सुन्दर आधार का समुचित उपयोग भी प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है।

उपर्युक्त संतुलित और वस्तून्मुखी दृष्टि से निर्मित होने के कारण यह निबन्ध कुछ विशेष आकर्षक बन गया है। सदा सबके द्वारा दुहराई जाने वाली कुछ छोटी-मोटी बातें चाहे इसमें छूट गई हों, किन्तु सार्थकता की नई दिशाओं से युक्त होने के कारण इसमें अंशतः एक नवीनता आ गई है, जो, आशा है, हिन्दी के पाठकों को रुचिकर और ग्राह्य प्रतीत होगी। हम कह सकते हैं कि सफल भविष्य की ओर बढ़ने के लिए यह एक सार्थक आरम्भ-बिन्दु है। अस्तु।

सागर
१-११-५८

गंगाधर झा
(प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय)

लेखक की ओर से

यह पुस्तक सागर विश्वविद्यालय की हिन्दी एम० ए० परीक्षा के नवम प्रश्न-पत्र के लिए लघु प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत की गई थी। विश्व-विद्यालय के पाठ्यक्रम में इस प्रकार की व्यवस्था संभव करने के लिए विश्वविद्यालय की अधिकारी समितियों का आभार स्वीकार करता हूँ। विभागाध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं प्राध्यापक श्री गंगाधर झा के निर्देशन के अभाव में पुस्तक का लेखन मेरे लिए असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता। औपचारिक रूप से पूज्य गुरुवर वाजपेयी जी एवं आदरणीय श्री झा का आभार प्रदर्शन करते हुए मैं संकोच का ही अनुभव कर रहा हूँ। वह इसलिए कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध इतना पवित्र है कि उसमें सामान्य शिष्टाचार को कोई स्थान नहीं है।

श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों से साहित्य-जगत् में प्रवेश करने का यह मेरा प्रथम प्रयास है। मनोविज्ञान सम्बन्धी विशिष्ट खोजों और मनोविज्ञान-प्रधान साहित्य के प्रति मेरी विशेष रुचि रही है। जोशी जी के उपन्यासों का अध्ययन करते समय मैंने इसका उपयोग किया है। मेरी सफलता-असफलता का निर्णय तो सुधी पाठक-समाज ही करेगा। इस लघु प्रबन्ध के आगे के कार्य के रूप में मैंने अपनी पी-एच०डी० की शोध का विषय "आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यक्ति-वादी प्रवृत्तियाँ" चुना है। संप्रति इसी कार्य में संलग्न हूँ। इस पुस्तक के पाठकों से मेरा निवेदन केवल यह है कि पुस्तक में विवेचित विषय की कमियों से मुझे अवगत करावें और उनमें आवश्यक सुधार करने के सुझाव दें।

अन्त में मैं श्री रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स तथा उनके कार्य-कर्ताओं का अभिवादन करता हूँ, जिन्होंने मेरे प्रयास को मुद्रित रूप देकर मुझे अनुगृहीत किया। पुस्तक में जो भी भूलें अथवा कमियाँ रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ।

चन्द्रद्वार,
३-११-५८
सागर विश्वविद्यालय

—बलभद्र तिवारी

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	**विषय प्रवेश :** साहित्य और युग परिवर्तन : 'वस्तु'; साहित्य और युग परिवर्तन : 'रूप'; इतिवृत्त और कथा में मनुष्य की मौलिक अभिरुचि; उपन्यास और महाकाव्य; उपन्यास और नाटक; उपन्यास की परिभाषा (परिभाषा की समस्या); उपन्यास की कतिपय प्रचलित परिभाषाएं; निष्कर्ष ।	१-१६
२.	**उपन्यास के तत्व :** उपन्यास के तत्व : कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली, जीवन-दर्शन । उपन्यास के प्रकार : घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, नाटकीय उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास ।	१७-३५
३.	**मनोवैज्ञानिक उपन्यास :** मनोवैज्ञानिक उपन्यास का आरम्भ; मनोवैज्ञानिक उपन्यास की पृष्ठभूमि; मनोवैज्ञानिक उपन्यास का मूल वैशिष्ट्य; मनोवैज्ञानिक उपन्यास और अन्य उपन्यासों में अन्तर; उपर्युक्त तथ्यों का विश्लिष्ट आकलन; मनोवैज्ञानिक उपन्यास और आधुनिक मनोविज्ञान ।	३६-४६
४.	**हिन्दी उपन्यास का विकास :**	४७-५७

अध्याय	विषय	पृष्ठ
५.	**इलाचन्द्र जोशी के सिद्धान्त :** साहित्य की प्रेरणा; साहित्य स्वरूप का मूल गुण (अस्पष्टता); साहित्य और संस्कृति; साहित्य में प्रगतिशीलता; कथा-साहित्य; साहित्य, उपन्यास और मनोविज्ञान; जोशी जी का प्रगतिशील यथार्थवाद; जोशी जी का आत्मनिरीक्षण; भविष्य का उपन्यास।	५९-७७
६.	**आरम्भिक उपन्यास :** भूमिका; 'लज्जा'; कथानक; पात्र; मनोवैज्ञानिक आशय; 'संन्यासी' : कथानक; पात्र; मनोवैज्ञानिक आशय; एक आवश्यक आकलन; आधारभूत पात्र; 'पर्दे की रानी'; कथानक; पात्र; मनोवैज्ञानिक आशय; सामाजिकता का समावेश।	७८-१०५
७.	**मध्यस्थिति के उपन्यास :** आरम्भिक वक्तव्य; 'प्रेत और छाया' : कथानक; पात्र; मनोवैज्ञानिक आशय; सृजन और विकास के तत्व; 'निर्वासित': कथानक; पात्र; मनोवैज्ञानिक आशय; सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य में समन्वय; राजनीतिक विचार।	१०६-१२९
८.	**परवर्ती उपन्यास :** आवश्यक निर्देश; 'मुक्तिपथ' : कथानक, पात्र (राजीव, सुनन्दा, प्रमीला, विजय); नवीन उद्भावना; 'सुबह के भूले' : कथानक; पात्र (गिरिजा, महावीर); उपन्यास की विशेषता; 'जिप्सी' : कथानक; पात्र (नृपेन्द्र, रंजन, वीरेन्द्र कुमार, मनिया); मनोवैज्ञानिक तथ्य की योजना; राजनीतिक विचार; 'जहाज का पंछी' : कथानक; पात्र; लोकमंगल की भावना का प्रौढ़ रूप।	१३०-१५४

अध्याय	विषय	पृष्ठ
९.	**इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास :**	१५५-१७१
	स्थितियाँ और पात्र-विकास; वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से; कला की दृष्टि से; आरम्भिक उपन्यास; मध्यस्थिति के उपन्यास; परवर्ती उपन्यास; पात्रों का विकास; निष्कर्ष ।	
१०.	**उपसंहार :**	१७२-१८४
	कलात्मक विवेचन; इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक मौलिकता; कलात्मक दृष्टिकोण; शैली, कथानक, चरित्र-चित्रण, सामाजिक वस्तु; इलाचन्द्र जोशी तथा अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार; क्या जोशी जी को मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहा जाय ? साहित्यिक विवेचन ।	
	परिशिष्ट	१८५-१८६

१

विषय प्रवेश

फ्रेडरिक श्लीगल का वक्तव्य है कि "साहित्य एक राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का व्यापक सत्व है।"[१] जब हम किसी देश अथवा जाति की संस्कृति का अध्ययन करते हैं; तब सब से अधिक सहायता हमें उस देश या जाति के साहित्य से मिलती है। साहित्य में हमें मानवीयता के वास्तविक स्वरूप के दर्शन होते हैं। मनुष्य जिन आदर्शों की पूर्ति को अपने जीवन की पूर्णता समझता है, जिन वस्तुओं के अभाव को अपने जीवन का अभाव समझता है, सुख दुःख तथा विविध भावनाओं के रंगों के अंतर्गत जो अनुभव करता है, जगत के महत् और तुच्छ, उदास और भयानक, सुन्दर और कुरूप जिन दृश्यों की संवेदना करता है, सामाजिक नीति और संबंधों के प्रभाव को अपने जीवन में जिस प्रकार अनुभव करता है, सत्य के साक्षात के साथ जिन कल्पनाओं और स्वप्नों में वह लीन होता है, उन समस्त की अभिव्यंजना साहित्य में होती है। इसलिए विद्वानों ने साहित्य का मूल वैशिष्ट्य "मानवीयता" को माना है।[२] साहित्य की अनेक परिभाषाओं में न उलझ कर हम 'डी० क्वन्सी' द्वारा प्रदत्त उसकी परिभाषा का उल्लेख करेंगे। उन्होंने साहित्य को दो कोटियों में विभाजित किया है : ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य।[३] ज्ञान के साहित्य के द्वारा हमें विविध विषयों और वस्तुओं

१. Scott James, "The Making of Literature", p. 141.
२. Ford Madox Ford, "The March of Literature: From Confucious to our Times", p. 26.
३. Scott James, "The Making of Literature", p.23-24.

से संबद्ध सूचना प्राप्त होती है और उन सूचनाओं का ग्रहण हम बौद्धिक रूप में करते हैं, शक्ति का साहित्य हमें प्रभावित और अभिभूत करता है, केवल बौद्धिक रूप में गृहीत न होकर वह हमारे द्वारा अनुभूत होता है।

साहित्य और युग परिवर्तन 'वस्तु'

साहित्य का स्वरूप सदा एक सा नहीं बना रहता। युग के अनुसार उसमें परिवर्तन होते रहते हैं—क्रमशः पुरानी प्रवृत्तियों का लोप और नई प्रवृत्तियों का उदय होता रहता है। इसीलिए साहित्य का इतिहास होता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" में युग विभाजन करते हुए इस तथ्य को महत्व दिया है। उनके अनुसार समय के साथ मनुष्य की चित्तवृत्ति का प्रकाशन होता है।[1] इसीलिए साहित्य में हमें अनेक प्रवृत्तियाँ और धाराएं दिखाई पड़ती हैं। यह संभव है कि किसी एक ही युग में अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों और दृष्टिकोणों की उपस्थिति हो। वर्तमान युग की यही विशेषता है। इसका परिणाम यह है कि वर्तमान युग में हम साहित्य के क्षेत्र में अनेक धाराओं और प्रवृत्तियों के दर्शन पाते हैं। समीक्षक का कार्य कठिन हो जाता है, क्योंकि उसके लिए यह आवश्यक है कि किसी विशेष दृष्टिकोण अथवा मतवाद को प्रश्रय दिये बिना वह विभिन्न कृतियों का मूल्यांकन उनकी अपनी विशेषताओं के आधार पर करे। ऐसे युगों में कला के मूल मापदंड भी बहुत स्थिर नहीं रह जाते। साहित्य-मानव कुछ नई उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता है और इन आकांक्षित उपलब्धियों की नवीनता ही उसके मूल्यांकन में कठिनाई उपस्थित करती है। ऐसी स्थिति में इतिहास हमारे संचित ज्ञान और सिद्ध उपकरणों के संचय के रूप में बहुत सहायक होता है और

१. पंडित रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास,

उसके आधार पर नूतन गतियों के मूल्यांकन और व्याख्या में सहायता मिलती है। प्रस्तुत अध्ययन में इसे ध्यान में रखा गया है।

साहित्य और युग परिवर्तन "रूप"

कला की मौलिकता अन्ततः रूप में दृष्टिगोचर होती है। रूप की एकता में वस्तु की विविधता का समाहार होन पर ही कलाकृति का जन्म होता है। किन्तु जिस प्रकार वस्तु के युग के साथ परिवर्तन दृष्टि-गोचर होता है, उसी प्रकार रूप में भी। साहित्य का अध्ययन करने पर पहली विशेषता यही दृष्टिगोचर होती है कि उसकी अभिव्यंजना के अनेक रूप हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, रिपोर्ताज इत्यादि साहित्य रूपों के विभिन्न वर्ग हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अनेक उपरूप भी हैं। इन समस्त रूपों और उपरूपों की उद्‌भावना केवल कलाकारों की झोंक से नहीं हो गई है। रूप की उद्‌भावना बहुत दूर तक वस्तु की विशेषताओं पर भी आश्रित है। क्योंकि रूप कोई ऐसा बना बनाया सांचा नहीं है; जिसमें चाहे जो ढाल दिया जाय। नई वस्तु अपनी उपयुक्त अभिव्यजना के लिए नए रूप की उद्‌भावना की मांग करती है। इसका हम एक उदाहरण देते हैं, मनोविश्लेषण के उद्‌भव के साथ यह ज्ञात हुआ कि मनुष्य का वास्तविक व्यक्तित्व चेतना के आवरण के नीचे अचेतन में प्रच्छन्न रहता है। इस अचेतन व्यक्तित्व की प्रवृत्तियाँ तथा कार्य और अभिव्यंजना की प्रणाली एक नितांत भिन्न जाति की होती है। कुछ उपन्यासकारों ने उसके उद्‌घाटन को अपना लक्ष्य बनाया। यह स्पष्ट है कि पुरानी विधियों से यह कार्य संपन्न नहीं किया जा सकता; अतएव अचेतन के उद्‌घाटन के लिए नई शैलियों और नए रूपों की उद्‌भावना की गई। स्पष्ट है कि वस्तु रूप का प्रवृत्ति के साथ घनिष्ट संबंध होता है।

एक और तत्व है, जो रूप को प्रभावित करता है और वह है "भाव विनियोग" की आवश्यकता। समाज और विज्ञान की प्रगति के

साथ भाव-विनियोग के नए नए साधन उत्पन्न होते हैं और उनके साथ नए कला रूपों का उद्भव होता है, उदाहरणार्थ : रेडियो के कारण रेडियो-रूपक नामक एक नितांत नए नाट्य रूप की उत्पत्ति हुई। सामाजिक और व्यावसायिक कारण भी नए कला रूपों को जन्म देते हैं। छापाखानों के प्रचार के साथ पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई और बड़े बड़े प्रकाशन गृह खुल गए। उनकी व्यावसायिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए बड़े परिमाण में नित्य नई सामग्री की आवश्यकता होती है; इसलिए व्यावसायिक लेखक भी उत्पन्न हुए और "फारमूला कहानी" जैसे रूपों का प्रचार हुआ।

किन्तु उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नए कला रूपों की उद्भावना के साथ लेखक का मूल कार्य सदा यह होता है कि वह विशुद्ध परिस्थिति-जन्य और व्यावसायिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर विशुद्ध कला की सृष्टि करे, अर्थात् उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए भी वह उन मूल्यों को भूल न जाय, जो कला को उसकी विशेषता प्रदान करते हैं।

इतिवृत्त और कथा में मनुष्य की मौलिक अभिरुचि :

भाव विनियोग की प्रवृत्ति मनुष्य में नैसर्गिक है। वह केवल अनुभव नहीं करता प्रत्युत अपने सुख-दुख इत्यादि को दूसरों के समक्ष उपस्थित भी करना चाहता है। वह दूसरों के जीवनानुभवों में भी रुचि लेता है। इसी प्रवृत्ति की पूर्ति कहानी में मानी जाती है। मौखिक रूप से कहानी सुनाने वाला आज भी कहानी आरंभ करने के पूर्व अपने श्रोताओं से अवश्य पूछता है कि वे "आप बीती" सुनना चाहते हैं अथवा "पर बीती"। इसमे यह स्वीकृति सन्निहित है कि कहानी नामक वस्तु का संबंध या तो उस वस्तु से है जो कहने वाले पर बीती है अथवा अन्य लोगों के अनुभव में आई है। इस प्राचीन परम्परा से ही क्रमशः उपन्यास और आधुनिक कथारूपों का आविर्भाव हुआ है। उनकी सत्ता

का प्रधान कारण सर्वत्र एवं सर्वदा मानव रोगों, मनोवेगों और क्रिया-कलापों में मनुष्य की अभिरुचि है।[१] सामान्यतः कहानी कहने का विकसित स्वरूप ही उपन्यास है जो परिवर्तित सामाजिक एवं कालात्मक परिस्थितियों की देन है। यद्यपि उपन्यास का रूप आज बदल गया है और बहुत अंशों में इतिवृत्त और कथा का उससे लोप हो गया है तथापि उसके अविर्भाव के विषय में उपर्युक्त संकेत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बाद में विकसित होकर भी साहित्य के इस अंग ने अपना एक प्रधान स्थान बना लिया है। और उसकी वर्तमान प्रगति से अनुमान होता है कि साहित्य के क्षेत्र में वह इससे भी अधिक गौरव प्राप्त करेगा। उपन्यास के इतने अधिक प्रचार का कारण यह है कि वह सर्वथा मानव जीवन से संबद्ध है और अभिव्यंजना का बिलकुल निजी एवं संवेदनापूर्ण साधन है।

इतिवृत्त और कथा के महत्व को यद्यपि आज संदिग्ध माना जाने लगा है, तथापि पूर्ववर्ती युगों में उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी। उनके ही आश्रय पर प्रसिद्ध महाकाव्यों, चरित-काव्यों, वीर-गीतों और नाटकों का प्रणयन हुआ है। करुण नाटक की व्याख्या करते हुए 'एरिस्टाटल' ने भी लिखा है कि उनमें कथानक सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है।[२] इस वक्तव्य में यद्यपि कथानक को उन्होंने बहुत गंभीर अर्थ के साथ ग्रहण किया है तथापि उसके महत्व की उनकी स्वीकृति शंका से नितांत विहीन है। इतिवृत्त और कथा पर आश्रित अन्य काव्य-रूपों तथा उप यासों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है, जिससे उपन्यास की आधुनिकता एक दम स्पष्ट हो जाती है। अन्यत्र हमें महापुरुषों की कथा मिलती है; किन्तु उपन्यास के पात्र आरम्भ से ही जन साधारण से गृहीत होते

१. W.H. Hudson, "An Introduction to the study of Literature"; p. 111

२. Aristotle, Poetics, p. 63.

आए हैं। यह एक ऐसा साहित्य रूप है जो सबसे अधिक प्रजातंत्र के विचारों के साथ पनपा है और जिसमें सामान्य मनुष्यों ने कला के माध्यम से उत्कर्ष प्राप्त किया है। अन्ततः यह स्मरण रखना चाहिए कि पुरुष स्त्री मानवीय भावावेग और कार्य की दृश्यराजि में सदा रुचि लेते आए हैं। यह रुचि साहित्य की पृष्ठभूमि में सबसे अधिक व्यापक और शक्तिमान प्रेरणाओं में से एक है। उसनेही बदलती हुई सामाजिक और कलात्मक परिस्थितियों के अनुसार अभिव्यंजना की विभिन्न शैलियों को जन्म दिया है। महाकाव्य और नाटक, वीर-गीत और प्रेम-कथा की उद्भावना समय समय पर उसी रुचि की पूर्ति के लिए हुई है। "इन समस्त रूपों में सबसे अधिक आधुनिक उपन्यास है और वह इस समस्त में सबसे अधिक विस्तृत और परिपूर्ण भी है।"[१]

उपन्यास और महाकाव्य :

उपन्यासों की तुलना महाकाव्य से की जाती है और उन्हें गद्य में महाकाव्य (epic in prose) कहा जाता है। दोनों साहित्यांग विषय-प्रधान होते हैं। कथा प्रवाह या सम्बन्ध निर्वाह की योजना दोनों में रहती है; किन्तु इन दोनों का आदर्श भिन्न है। महाकाव्यों में अधिकतर महान व्यक्तियों के महत् कार्यों का ही सन्निवेश होता है। अलौकिक तत्वों का प्रयोग भी उसमें अपेक्षित रहता है, परंतु उपन्यास में दैनन्दिन जीवन की वस्तु स्थान पाती है। तुलसी के राम का शासन समुद्र की लहरें भी मानती हैं और इसीलिए जलधि के वक्ष पर शिलाएँ तैर जाती हैं, किन्तु इस प्रकार की योजना में प्रेमचन्द का उपन्यासकार उपन्यासकार न रह जायगा। उपन्यास में भी यद्यपि आदर्श की प्रतिष्ठा हो सकती है तथापि वह यथार्थ के अधिक समीप होता है।

---

१. W.H. Hudson, "An Introduction to the study of Literature" p. 129.

'राल्फ फाक्स' ने उपन्यास को जन साधारण का महाकाव्य तथा उपन्यासकार को नए समाज का महाकाव्यकार कहा है।[१] इसका कारण यह है कि जीवन का जो व्यापक चित्र महाकाव्यों में अंकित होता रहा है; उसकी अवतारणा भिन्न रूप से उपन्यासों में भी होती है। उपन्यास ही एक एसा आधुनिक साहित्य रूप है, जिसमें जीवन के उत्कलित खंड न लेकर उसकी पूर्णता का समावेश किया जा सकता है और एक गंभीर जीवन दर्शन को स्थान दिया जा सकता है। आरम्भ काल में उपन्यासकार को भी लगभग वही स्थिति प्राप्त थी जो महाकाव्यों के साथ संलग्न है। और वह है, "अनुगायक तथा श्रोताओं की एकता", किन्तु इसका लाभ उपन्यासकार न उठा सके। राल्फ फाक्स कहते हैं: "मेरा विश्वास है कि मनुष्य की आत्मा की उपयुक्त अभिव्यंजना केवल महाकाव्य शैली द्वारा संभव है जो एक कला-रूप के रूप में उपन्यास की सफलता का वास्तविक रहस्य है। ..... वह महाकाव्य के अनुगायक (Rhapsodist) और उसकी श्रोता मंडली के बीच में भाव की पूर्ण एकता थी, जो काव्यात्मक को महाकाव्यात्मक बनाती थी और यह स्पष्ट है कि यदि लेखक और जनता के बीच में इस प्रकार का कोई भावैक्य स्थापित किया जा सकता तो उपन्यास विगलित होने के बदले विकसित होता।"[२]

उपर्युक्त तथ्यों को समझने के लिए ध्यान में रखना चाहिए कि उनका संबंध उन उपन्यासों से है; जिन्हें महान की श्रेणी में रखा गया है: जैसे 'सर्वेन्तीज' का "डानक्विकजोट", 'विक्टर हूगो' का "ला मिजराब्ल", 'दास्तोएव्हस्की' का "क्राइम एंड पनिशमेंट", 'तुर्गनव' का "फादर्स एंड सन्स" इत्यादि। इन सबमें केवल कुछ मनुष्यों की कहानी ही नहीं मिलती, प्रत्युत पात्रों के चरित्र के माध्यम से एक संपूर्ण युग

१. Ralph Fox, "The Novel and the People." (Moscow edition) p. 94.

२. Ibid. p. 105.

का स्वरूप मूर्त हो जाता है। इस सारपूर्ण व्याप्ति के कारण ही उपन्यास की तुलना महाकाव्य से की जा सकती है।

उपन्यास और नाटक

मारिऊं क्राफोर्ड ने उपन्यास को "पाकिट थियेटर" कहा है, क्योंकि उसके अंतर्गत केवल कथानक और पात्र ही नहीं; किन्तु वेशभूषा, दृश्य, सज्जा और नाट्य प्रदर्शन के अन्य समस्त उपतत्व समाविष्ट रहते हैं।[१] परिणामतः उपन्यास रंगमंच के उन समस्त बंधनों से मुक्त रहता है, जो नाटक का पथ कठिन बनाते हैं। उपन्यास की गति की स्वतंत्रता, उसकी व्याप्ति और उसकी लोच को नाटक किसी प्रकार उपलब्ध नहीं कर सकता। नाटक और उपन्यास की विधियों में एक बहुत बड़ा अंतर यह होता है कि नाटक प्रदर्शन की वस्तु है और उपन्यास इतिवृत्त (Narrative) की। इस प्रकार वास्तविकता और प्रत्यक्षता में नाटक उपन्यास से आगे बढ़ जाता है, किन्तु अन्य विधियों से उपन्यास इस क्षति की पूर्ति कर लेता है। "नाटक साहित्य-कला का सबसे अधिक नियमानुशासित रूप है और गद्य-कथा-साहित्य उसका सबसे शिथिल रूप।"[२] नाटक केवल वही लिख सकता है, जिसने उसके लिए अनवरत अभ्यास किया है। इसके विपरीत "ऐसा कोई भी मनुष्य उपन्यास लिख सकता है जिसके पास कलम दावात और कागज हैं तथा एक सीमा तक अवकाश और धैर्य है।"[३] इसीलिए उपन्यास की समीक्षा कठिन होती है और उन उपन्यासों को आदर्श मानकर चलना पड़ता है, जिन्होंने महानता की श्रेणी प्राप्त कर ली है, इसके बाद ही यह ध्यान रखना पड़ता है कि एक नई कृति पूर्णतया मौलिक विधियों से भी उत्कर्ष प्राप्त कर सकती है।

१. W.H. Hudson, "An Introduction to the study of Literature." p. 129.
२. Ibid. p. 130.
३. Ibid. p. 130.

उपन्यास के विकास में इतिवृत्तात्मकता और वर्णनात्मकता की अनिवार्य शर्त से कम से कम एक सीमा तक मुक्ति पाने के लिए क्रमशः प्रयास होते गए हैं। इन प्रयासों में से एक संवादयोजना भी है। आरम्भ में उपन्यासकार अपनी कृति का अबाध विधाता बनकर रचना में संलग्न होता था। जहाँ उसकी इच्छा होती थी, वहाँ वह प्रत्यक्ष रूप में अपने पाठकों को संबोधित करके भी अपने मन की बात कह लेता था। इस प्रकार कुछ उपन्यासकारों ने कतिपय स्थलों पर अपने विभिन्न महत्वपूर्ण अनुभव और निर्णयों के उल्लेख से अपनी कृतियों को समृद्ध किया है। किन्तु यह विधि बहुत कलात्मक नहीं मानी जाती। अब नाटककार के समान उपन्यासकार भी यह प्रयत्न करता है कि अपनी कृति में वह कहीं प्रत्यक्ष हस्तक्षेप न करे और अपने पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन स्वयं तटस्थ रहकर उनके ही वचनों और कार्य कलापों से होने दे। संवद-योजना इस उद्देश्य में उसकी सहायक होती है और उसके द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति में नाटकीय गुण का समावेश करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रयत्न उपन्यासकार ने नाटककार की प्रतिद्वंदिता में नहीं किया है, प्रत्युत वस्तुनिष्टता और तटस्थता की प्रचलित मांग उसे इस ओर ले गई है।

साहित्य के रूपों में जीवन की व्याप्ति उपन्यास के साथ महाकाव्य और नाटक में ही प्राप्त होती है। इसीलिए उनकी परस्पर तुलना में कुछ सार्थकता है। कहानी, मुक्तक काव्य, गीत इत्यादि उस व्याप्ति से वंचित होने के कारण उपन्यास के साथ तुलना कोई सार्थक आधार प्रस्तुत नहीं करते अतएव उसका हम प्रयास नहीं करेंगे।

उपन्यास की परिभाषा :

अ. परिभाषा की समस्या.

किसी भी वस्तु की परिभाषा देने के पूर्व यह आवश्यक होता है कि उसके कतिपय प्रतिनिधि दृष्टांतों पर ध्यान दिया जाय। उपन्यास के

विशाल क्षेत्र की ओर जब हम दृष्टि उठाते हैं तो देखते हैं कि वहाँ विविधता का साम्राज्य है और उसके उत्कर्ष के अन्य स्वरूप हैं। यह विशेषता उपन्यास की परिभाषा को कठिन बना देती है। इस कठिनाई को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण लेंगे। 'फील्डिंग' और 'रिचर्डसन' के उपन्यास भावुकता और काव्यात्मक न्याय का आधार लेकर चलते हैं और उनकी विशेषता इनकी मानवीय संवेदनशीलता में देखी जाती है। 'डिकन्स' की कृतियों में सामाजिक परिवेश को अधिक स्थान प्राप्त है तथा व्यक्तियों की दुर्बलताओं का सहानुभूतिपूर्ण, किन्तु विनोदात्मक प्रकाशन हुआ है। 'थामस-हार्डी' के उपन्यासों की विशेषता उनके एक गंभीर और मौलिक जीवन-दर्शन में सन्निहित है। उसकी घटना और चरित्र योजना अन्य गुणों के साथ अंततः इस जीवन दर्शन को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत करती है। 'एच०जी०वेल्स' ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों को आधार बनाकर वैज्ञानिक संभावनाओं का एक कल्पनालोक अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। उनमें एक साथ कुतूहल की तृप्ति और कल्पना की उन्मुक्ति के अनुभव के साथ मानव भविष्य का संभव चित्र प्राप्त होता है और तथाकथित वैज्ञानिक भविष्य वाणियाँ भी मिलती हैं। हिन्दी के क्षेत्र में भी ऐसी ही विविधता दृष्टिगोचर होती है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास निरंतर कुतूहल की सृष्टि और उसकी तृप्ति द्वारा विशुद्ध मनोरंजन का साधन करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय आदर्शों की गंभीर भूमिका में अपना रूप कल्प करते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास कथानक का लोप करके आंतरिक चरित्र और व्यक्तित्व के उद्घाटन को अपना लक्ष्य मानते हैं। यदि यह विविधता ही होती तो किसी प्रकार परिभाषा की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया जा सकता था, किन्तु उपन्यास के तत्वों के विषय में भी घोर मत विरोध पाया जाता है। सामान्यतः कथानक को उपन्यास का एक प्रमुख तत्व माना जाता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक

उपन्यास की उत्पत्ति के साथ कथानक उपन्यास से क्रमशः तिरोहित ही होता गया है, ऐसी दशा में उपन्यास विषयक एक सुनिश्चित धारणा निर्मित करना कठिन ही नहीं, संकटप्रद भी है। यदि समस्त उपन्यासों को ध्यान में रखकर उसकी परिभाषा बनाई जाय तो वह लगभग इस प्रकार होगी,' 'जिसमें व्यक्तिगत व सामाजिक कल्पनाशील अथवा यथार्थ जीवन के व्यापक स्वरूप को कलात्मक रूप की एकता में अभिव्यक्त किया जाता है, वह उपन्यास है। यह परिभाषा संभवतः बहुत व्यापक है किन्तु कम से कम अव्याप्ति का दोष उसमें नहीं है।"

आ. उपन्यास की कतिपय प्रचलित परिभाषाएँ :

उपन्यास की परिभाषा की कठिनाई हम ऊपर देख चुके हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित होगा कि उसकी कतिपय प्रचलित परिभाषाओं का परिचय हम प्राप्त करलें और उसके द्वारा ऐसे निर्णय पर पहुंचने का प्रयास करें, जो अधिक ठोस हो।

'स्काट जेम्स' के अनुसार 'उपन्यास एक कला है क्योंकि उससे ऐसी वस्तु का प्रदर्शन होता है, जिसे कलाकार जीवन अथवा जीवन के सत्य के रूप में भी स्वीकार करता है और इसीलिए कि इन तत्वों को एक ग्राह्य शक्ति से समन्वित करके बाह्य रूप में संग्रथित करता है तथा इस तथ्य के लिए हमें प्रेरित करता है कि जो कुछ उसने देखा है वह हम देख सकें और उससे आनंद प्राप्ति करें।"[१] अर्थात् उपन्यास एक ऐसा कला रूप है, जिसमें लेखक अपने अनुभवों और निष्कर्षों को अभिव्यक्त करता है तथा पाठक उस अभिव्यक्त वस्तु से भाव विनियोग स्थापित करके आनंद लाभ करता है।

'वाल्टर एस० कैंपवैल' चरित्र के उद्घाटन को उपन्यास की मूल विशेषता मानते हैं। उनका कथन है कि "उपन्यास एक लम्बी गद्य

१. Scott James, "The Making of the Literature", p. 355-356.

वर्णना है, जिसमें मानव चरित्र का उद्‌घाटन होता है। मानव चरित्र विविध रूपों में हमारे समक्ष आता है अतएव साहित्य का यह अंग भी विस्तृत भूमि पा रहा है।"[१]

"टैडैन्सीज आफ द माडर्न नाविल" में एच. जी. वेल्स इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि उपन्यास एक गंभीर आशय की वस्तु है। वे कहते हैं, "उपन्यास व्यर्थ बकवास के अतिरिक्त और सब कर सकता है।" अर्थात् उपन्यास का अस्तित्व विस्तृत है और वह सब कुछ है।[२]

फ्रान्सीसी साहित्य के प्रमुख विद्वान 'हेमिश-मिलेस' के अनुसार "उपन्यास उन कीटाणुओं की आंखों के समान है; जिनमें आठ सौ अस्सी कांच हैं और जो उचित रूप से पृथ्वी के दृश्यों की आठ सौ अस्सी चित्रावलियां प्रस्तुत करते हैं, परन्तु उपन्यास के संबंध में व्यक्तिवादी उपन्यासकार पूर्णतः भिन्न हैं और इन कीटाणुओं से कम दृष्टिकोण नहीं रखते हैं।"[३] वे प्रस्तुत करते हैं कि उपन्यास में जीवन को विविध दृष्टिकोण से देखा जाता है तथा व्यक्तिवादी उपन्यासकारों के वैचित्र्यपूर्ण दृष्टिकोणों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

'जेन आस्टिन' के अनुसार "उपन्यास एक ऐसी कृति है, जिसमें मनुष्य की सबसे बड़ी शक्तियां प्रदर्शित होती हैं, जिसमें मानवीय प्रकृति का अत्यंत गंभीर ज्ञान, उसकी विविधता के सुखद निरूपण, प्रत्युतपन्न मति और विनोद के सुन्दरतम उन्मेष, उत्तम चुनी हुई भाषा में जगत के समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं।"[४] इस परिभाषा में भी "जीवन की विविधता और मानवीय चरित्र" पर बल दिया गया है।

'जोसेफ० टी० सिपले' अभिधान की व्युत्पति के आधार पर उपन्यास की परिभाषा देते हैं। वे लिखते हैं, "अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य

१. Walter, S Campwell, "The Complete Novel". P.136.
२. H. G. Wells, "Tendencies of the Modern Novel".
३ Hamish Miles. "France". p. 31-32.
४ Elizabeth, A. Drew, "The Modern Novel", p.5.

भाषाओं में उपन्यास के लिए प्रयुक्त शब्द "रोमान्स" मध्यकालीन रोमान्स में उपन्यास की प्राचीन उत्पत्ति का संकेत करता है। हमारा शब्द अर्थात 'नाविल' इटालियन 'नूवेला' से निकला हुआ है और मोटे रूप में "समाचार" का समकक्ष है, वह एक नए प्रकार की चुटकुलों से भरी हुई एक ऐसी कथा का संकेत करता है, जो आसन्नकालीन और सत्य दोनों हैं।"[१]

'राल्फ फाक्स' भी उपन्यास का वैशिष्ट्य 'जीवन की संपूर्णता' में देखते हैं। उनके अनुसार "उपन्यास केवल कल्पनात्मक गद्य नहीं है, वह मनुष्य के जीवन का गद्य है, ऐसी प्रथम कला जिसने संपूर्ण मनुष्य को लेने और उसे अभिव्यंजना देने का प्रयास किया है।"[२] हेनरी जेम्स के अनुसार "उपन्यास एक सजीव वस्तु है। वह पूर्ण और अखंड है। किसी अन्य जीव के समान, जिस अनुपात में उसमें सजीवता है, उस अनुपात तक मेरे विचार से यह पाया जायगा कि प्रत्येक भाग में दूसरे भागों का भी कुछ अंश है।" हेनरी जेम्स हमारा ध्यान उपन्यास की एकता की ओर आकृष्ट करते हैं, उसकी विशेषता उसकी पूर्णता में संनिहित है। वह केवल अपने भागों का योग नहीं होता किन्तु उससे कुछ अधिक होता है। पूर्ण के द्वारा प्रत्येक भाग की सार्थकता प्रकाशित होती है। यह एकान्वित सामंजस्य उसे विशेषता प्रदान करता है।

'पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी' ने उपन्यास का उल्लेख विशेषतः उस की भाषा-शैली और उत्पत्ति की दृष्टि से किया है। "आधुनिक साहित्य" में वे लिखते हैं "उपन्यास से आजकल गद्यात्मक कृति का अर्थ लिया-जाता है। पद्य बद्ध उपन्यास नहीं हुआ करते। उपन्यास के विकास से गद्य के विकास का भी सम्बन्ध है। प्रायः वही परिस्थितियाँ गद्य के विकास में सहायक हुई हैं जो उपन्यास के विकास में योग दे रही थीं।

---

१. Joseph T. Shipley, "Dictionary of World Literature"
२. Ralph Fox, "The Novel and the People".

यूरोप में गद्य उपन्यासों के पूर्व कुछ प्रेमाख्यानक कविताएं प्रचलित थीं, उन्हें ही आधुनिक उपन्यास की जननी कहा जा सकता है।"[१]

डा० सत्येन्द्र भी पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी के विचार को स्वीकार करते हैं। डा० देवराज ने विशेषतः उपन्यास शब्द पर जोर देते हुए अपने प्रबंध "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" में उसका वर्णन इस प्रकार किया है, "उपन्यास की कोई सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है, प्रायः यह अंग्रेजी में "नावेल" शब्द का पर्यायवाची शब्द समझा जाता है, पर नावेल का प्रयोग अंग्रेजी में जेन आस्टिन के "अहंकार और पूर्वग्रह" (Pride and Prejudice) जैसी सुसंगठित कथाओं के लिए भी किया जाता है तथा दूसरी ओर 'जेम्स ज्वायस' के "युलिसिस" एवं मार्शल पूस्त की "अतीत की स्मृतियाँ" ऐ ला रेसर्स दु ताप्येर्दु (A La Recherche de Tempo Perdu) के लिए भी, जिनमें कथा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं। खत्री जी की "चन्द्रकान्ता" और उसकी संतति, प्रेमचन्द जी के "सेवासदन" तथा अज्ञेय के "शेखर एक जीवनी" तथा "नदी के द्वीप" के लिए हम एक शब्द उपन्यास का प्रयोग करते हैं।.....जो हो, पर जिस व्यक्ति ने उपन्यास शब्द का प्रयोग नावेल के पर्यायवाची के रूप में किया होगा, वह अवश्य ही साहित्य तत्व तथा उसके नूतन रूप विधान तत्व का मर्मज्ञ होगा। उप=निकट, समीप, न्यास=रखना, स्थापित करना अर्थात् उपन्यास शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि लेखक इसके द्वारा निकट की, मन की कोई बात कहना चाहता है।"[२]

इ. निष्कर्ष.

हम, संक्षेप में, उन तत्वों का आकलन यहाँ करेंगे, जो उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रस्तुत हुए हैं। प्रथम द्रष्टव्य यह है कि उपन्यास की

१. पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी "आधुनिक साहित्य" पृष्ठ १२३.
२. डा० देवराज, "आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान" पृ० १७.

ष्ठवर्ती प्रेरणा को मनुष्य की एक मौलिक प्रवृत्ति माना गया है। द्वितीयतः उपन्यास की शैली भाषा की दृष्टि से गद्य स्वीकृत है। तृतीयः उसे विविध तत्वों की एक सजीव एकता के रूप में देखा गया है। "भाव विनियोग" उसका प्रमुख उद्देश्य माना गया है, जिसे रूप के माध्यम से संपन्न करने के कारण उपन्यास को एक कला स्वीकार किया गया है। वह आनन्द की वस्तु है, किन्तु विशुद्ध मनोरंजन की नहीं। उसमें एक गंभीर आशय होता है। यह गंभीरता उसमें उनकी मानवीय वस्तु के कारण आती है। उपन्यास जीवन का व्यापक चित्रण करता है और मनुष्य की प्रवृत्ति को विशद रूप से उद्घाटित करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब रूसी उपन्यास का उत्थान हुआ, तब उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसके जीवन से अनुरूपता से देखी गई। यह कहा गया कि रूसी उपन्यास इसलिए उच्च कोटि के हैं कि उनमें कला नहीं किन्तु जीवन प्रतिष्ठित है।[1] अकलात्मकता की यह विचित्र प्रशंसा यद्यपि मिथ्या है तथापि इससे यह प्रमाणित होता है कि जीवन का व्यापक और सारगर्भ चित्रण उपन्यास में होता है।

जीवन में मनुष्य को हम व्यावहारिक और स्वार्थपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। दूसरों के प्रति हमारी प्रवृत्ति अधिकांशतः सहानुभूतिपूर्ण न होकर द्वन्द्वात्मक रहती है किन्तु उपन्यासकार उसे समस्त आवरण हटाकर देखता है। कठोरतम विद्रूप के क्षण में अपने पात्रों के प्रति उसकी सहानुभूति की अन्तः-सलिला अक्षुण्ण बनी रहती है। यही वह रहस्य है जो मानव की मूलभूत प्रियता का प्रसार करता है। इसके अतिरिक्त बड़े उपन्यासों में एक गंभीर जीवन दर्शन का समावेश रहता है, जो उन्हें महत्ता की ऊंचाइयों पर ले जाता है। 'राल्फ फाक्स' यह मानते हैं कि उपन्यास लेखन एक दार्शनिक उद्योग है। अनेक प्रसिद्ध कृतियों का

---

१. Scott James, "The Making of the Literature" p. 267.

नामोल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "वे इसीलिए महान हैं कि उनके आधार में चिन्तन का यह गुण है, इसीलिए कि उनमें उच्च कोटि की कल्पनाप्रवणता है और जीवन पर प्रेरित टीकाएं हैं। यह वह गुण है जो कथा साहित्य में प्रथम कोटि की कृतियों को द्वितीय कोटि की कृतियों से भिन्न बताता है। यह सत्य है कि ऐसे दार्शनिक हैं जो उपन्यास लिखने में बुरी तरह विफल हुए हैं, किन्तु कोई भी उपन्यासकार अपने पात्रों के विषय में सामान्यीकरण की उस योग्यता के बिना सृजन करने में कभी समर्थ नहीं हुआ, जो जीवन के प्रति एक दार्शनिक दृष्टिकोण का परिणाम है।"[१]

१. Ralph Fox, "The Novel and the People", p. 92.

२

उपन्यास के तत्व

उपन्यास के तत्व :

विद्वानों ने उपन्यास के तत्वों का जो विवरण दिया है वह विश्लेषण पर आश्रित है। अनेक कृतियों में सामान्य रूप से, जो विशेषताएँ पाई जाती हैं, उनका ही आकलन उन्होंने कर दिया है। परिणामतः उपन्यास के तत्वों का विवेचन उसकी सामान्य विशेषताओं को ही सामने लाता है और उनसे किसी कृति की मौलिकता पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। उपन्यासों की उत्तम समीक्षाएँ उसके तथाकथित तथ्यों पर आश्रित नहीं हैं, बल्कि वे उपन्यास की पूर्णता के आधार पर की गई हैं और विशेष जीवन दर्शन की भूमिका में उनमें प्रस्तुत जीवन-तत्वों का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार उपन्यास के तत्वों का प्राप्त विवेचन पाठ्यक्रम और आरंभिक ज्ञान के लिए अधिक अनुकूल है। प्रत्येक महान उपन्यास अपने साथ नई मान्यताएँ उत्पन्न करता है और उनके आधार पर ही उसकी उचित समीक्षा की जा सकती है। अपने अध्ययन में इस तथ्य का हम ध्यान रखेंगे, किन्तु तत्वों की परिगणना-विश्लेषण में यदा कदा सहायक हो जाती है, इसलिए उसका संक्षिप्त विवरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने इस संबंध में 'हडसन' की मान्यताओं का इस प्रकार अनुवाद किया है : "उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है। इसलिए उसका संबंध मानव-व्यापारों, क्रियाकलापों और घटनाओं से होता है। इसी को उपन्यास की **"कथा वस्तु"** कहते हैं।

इन घटनाओं का विधाता मानवसृष्टि उपन्यास का **"पात्र"** कहलाता है। उपन्यास जगत में पात्रों की बातचीत को **'कथोपकथन'** कहते हैं। ये जीवन घटनाएँ किसी विशिष्ट समय और किसी विशिष्ट **स्थान पर** घटित होती हैं। इस समय और स्थान को ही, परिस्थिति, वातावरण अथवा **'देशकाल'** कहते हैं। शैली का तत्व भी इसमें आवश्यक है। इन पाँच तत्वों की अपेक्षा एक छठा तत्व करता है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक जाने या अनजाने जीवन और उसकी कुछ समस्याओं का उद्घाटन तथा विवेचन करता है।[१] जिससे किसी दृष्टि का पता चलता है। यह उपन्यासकार का जीवन-दर्शन है।"[२]

उपन्यास के तत्वों के संबंध में विभिन्न विद्वान प्रायः एक मत हैं। प्रमुख तत्व उपर्युक्त छः प्रकार के ही माने गए हैं। ई. एम. फोर्स्टर ने उन तत्वों को दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया है। यह तत्वों का दूसरा नामकरण मात्र ही है। (Aspects of Novel) में इनका विवेचन निम्नलिखित प्रकार से है।

१. कथा (The Story) २. पात्र (People) ३. वर्ण्य विषय (Plot) ४. Fantasy. ५. Prophecy. ६. Pattern and Rhythm. रूप और इत्यादि विभिन्न तत्वों को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है परन्तु सबका समाहार डब्ल्यु एच. हडसन द्वारा निर्देशित तत्वों में हो जाता है। हडसन के अनुसार "कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, समय और स्थान अन्विति, शैली और कथित अथवा निहित जीवन-दर्शन ही किसी उपन्यास सदृश गद्यात्मक कृति के प्रमुख अंग हैं।"[३] इन तत्वों पर पृथक रूप से

१. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ८.
२. W.H. Hudson, An Introduction to the study of Literature, p. 130.
३. Plot, characters, dialogue, time and place of action, style and a stated or implied philosophy of life, these are the chief elements entering into the composition of any work of prose fiction, small or great, good or bad "An Introduction to the study of literature" p. 131.

विचार करना आवश्यक है।

१. **कथानक** (Plot) : मानव जीवन में विभिन्न घटनाओं का क्रम चलता रहता है। कलाकार उनमें से अपनी कृति के योग्य सामग्री चुन लेता है और इस सामग्री को अपनी विशेष योजना दृष्टि से संघटित करता है। इस विशेष योजना के संबंध में एक बार नीत्शे ने कहा था कि पूर्वनिश्चित सभी बातें अयथार्थ होती हैं।[1] परन्तु कलाकार की कला वहीं सिद्ध होती है; जब वह विशृंखलता में शृंखला सदृश वस्तु की खोज कर ले। उपन्यासकार का कार्य सफलता की दृष्टि से संवेदक घटनाओं के चयन में ही श्रेयस्कर होता है। जिस संवेदना से जनता अधिक आघात पाती है अर्थात् जिससे पाठक के मर्म पर प्रहार होता है और वह अनुभवों में खो जाता है, वही कथावस्तु के होने लायक वस्तु है।

उपन्यास की कथावस्तु रोचक होना आवश्यक है। "कथा सरिता की धारा के समान है और उन परिस्थितियों की, जिनके बीच में से होकर धारा अग्रसर होती है, हम सरिता के किनारों से तुलना कर सकते हैं। उपन्यास में वैयक्तिक जीवन का निरूपण सामाजिक अथवा जातीय जीवन की पृष्ठ भूमि बना कर होता है, अतएव उसमें यथार्थ के साथ कल्पना का मेल अनिवार्य है।"[2] हेनरी जोन्स ने इसी बात को स्पष्ट कर दिया है कि "अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है। वह वायु के स्पंद को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुण लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं कि आप सैनिक जीवन

१. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास, पृ० ९.

२. आलोचना : उपन्यास विशेषांक, पृ० ३३ डा० रामअवध द्विवेदी : उपन्यास के प्रकरण.

में हाथ न डालें।"[१] कथावस्तु की दृष्टि में उपन्यासों के दो भेद किए जाते हैं। १. Novels of loose plot अर्थात् शिथिल या असम्बद्ध कथावस्तु के उपन्यास, २. Novels of organic plot अर्थात् संगठित अथवा संबद्ध कथावस्तु के उपन्यास। प्रथम प्रकार के उन्यास में घटनाओं का समूह एक असंपृक्त रूप में प्रस्तुत रहता है। इसमें वर्णनान्विति (Unity of Narrative) कार्य कलापों पर निर्भर रहती है, नायक का व्यक्तित्व ही इसमें सब कुछ होता है। व्यक्ति के चरित्र सम्बन्धी अनेक रोचक घटनाओं की राशि पृथक-पृथक दृष्टिगत होती है 'चद्रकान्ता' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

दूसरे प्रकार के उपन्यासों की घटनाओं में एक सूत्रता लक्षित होती हैं। और घटनाओं की योजना का लक्ष्य अंतिम परिणाम ही है। परन्तु इन दोनों प्रकारों का भेद अत्यन्त साधारण है, सूक्ष्म नहीं। संक्षेप में, कथावस्तु रोचक, प्रवाहशील एवं अकृत्रिम होनी चाहिए। कथाओं के आधार पर जैसे आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा कथानक दो प्रकार से और माना जा सकता है। १. साधारण Simple २. मिश्रित Compound। साधारण कथानक में एक ही कथा की प्रधानता रहती है और अवान्तर कथाओं का प्रायः लोप हो जाता है। मिश्रित कथानक में प्रधान कथा के साथ प्रासंगिक कथाएं भी अधिक संख्या में रहती हैं; परन्तु अवान्तर कथाएं अधिकाधिक कथावस्तु को सहारा देने के लिए प्रस्तुत की जाती हैं।[२]

२. चरित्र चित्रण (Characterization):

प्रेमचन्द जी उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मानते हैं। चरित्र नाटक और उपन्यास दोनों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। नाटक के चरित्रों का परिचय, अभिनय कौशल, वेशभूषा और दृश्यावयिलों के

---

१. उपन्यास पर प्रेमचन्द का निबन्ध "कुछ विचार".

२. ताराशंकर पाठक, हिन्दी के सामाजिक उपन्यास, पृ० १२.

उपन्यास में केवल एक ही प्रणाली है, वह है 'अभिव्यंजना' की शक्ति। अभिव्यंजना शक्ति सशक्त होनी चाहिए। पात्रों की साधारणतम विशेषताओं का उद्घाटन करना उपन्यासकार को अभीप्सित नहीं है। कलाकार को पात्रों की आंतरिक और बाह्य विशेषताओं में उन्हीं को चुनना चाहिए; जो उसके पात्रों पर अधिक प्रकाश डाल सकें। 'लेसिंग' ने उचित ही कहा है कि यह आवश्यक नहीं कि पात्रों के चरित्र सम्बन्धी साधारणतम विवरण दिए जाएँ क्योंकि छोटी-छोटी आवश्यक बातों के विवरण से उपन्यास में सजीवता की अपेक्षा नीरसता ही अधिक आएगी। [१]

चरित्र चित्रण के लिए आजकल दो प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं। १. विश्लेषणात्मक (Analytic) और २. नाटकीय या कार्य-कारण सापेक्ष। प्रथम में, उपन्यासकार अपने पात्रों को निःसंग दृष्टि से देखता है, उनके भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण करता है और कभी-कभी अधिकाधिक निर्णय भी दे डालता है। परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति दूसरी ही है। आधुनिक चरित्र चित्रण की प्रवृत्ति यह है कि अपने पात्रों को प्राण शक्ति से संपन्न करके लेखक उनको जीवन की रंगस्थली में सुख-दुःख से आंख मिचौनी करने के लिए छोड़ दे। जीवन के घात प्रतिघात, और अपकर्ष में बहता हुआ चरित्र स्वयं ही अपने को अनावृत करे, उत्कर्ष अपनी दुर्बलता और सबलता एवं सुरूपता कुरुपता का प्रदर्शन करें। लेखक केवल गतिविधि निरीक्षित करता रहे और सतत् प्राणधारा प्रवाहित करता रहे। कलाकार का स्थान यहाँ विधाता के समकक्ष हो जाता है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के क्रिया-कलाप ही उसकी चरित्र अभिव्यक्ति करते हैं।

आधुनिक चरित्र नायक खलनायक का सामना नहीं करते, उनके विरोध में स्थित परिस्थितियाँ ही उनको बाधा बनकर आती हैं। ये

---

१. लैकून, पृ० २०१

परिस्थितियाँ, चाहे मानसिक हों अथवा बाह्य। कुछ विचारकों ने जैसे ई. एम. फोर्स्टर आदि विद्वानों ने उपन्यास के पात्रों का चरित्र चित्रण की पद्धति के अनुसार दो श्रेणियों में विभाजन किया है।[१]

पहली कोटि के वे पात्र हैं, जिनमें सजीवता के सभी चिन्ह मिलते हैं। इस प्रकार के जीवित पात्रों को राउण्ड अथवा गोल तथा इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के अपूर्ण रूप वाले जीवन के स्पन्दन से रहित पात्रों को फ्लैट अथवा चपटा कहा गया है।[२] कथावस्तु और पात्रों का उचित उपयोग ही उपन्यास की आधार शिला है। इन दोनों के सामंजस्य से ही पाठकों के ऊपर उचित प्रभाव डाला जा सकता है। अतएव उपन्यासकार की कला की छटा वस्तु-विन्यास में ही मिलती है।

३. कथोपकथन (Dialogue) :

सुव्यवस्थित कथोपकथन उपन्यास के महत्वपूर्ण तत्वों में से एक है। यह उसका (उपन्यास का) वह भाग है, जहाँ हम पात्रों के वार्तालाप के संपर्क में आते दिखते हैं और जिसमें कथावस्तु स्वाभाविता और वास्तविकता की ओर अग्रसर होती है।[३] उपन्यास के पात्र मानव के प्रतिबिम्ब हैं, अतएव वे मानवोचित व्यवहार ही नहीं करते, बल्कि वाणी भी बोलते हैं और उपन्यास की सफलता इन पात्रों की भाषा की स्वाभाविकता में निहित है। स्वाभाविकता से यह अर्थ है कि पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग होना चाहिए। पात्र यदि राजवंश का है तो उसकी भाषा में साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अलगाव होगा। वास्तविकता और रमणीयता से उपन्यास कृत्रिमता से विरत होता है। इसके विलोम में यदि पूर्व निश्चित आधार पर उपन्यासकार कृत्रिम भाषा आदि को थोपने का प्रयत्न करता है तो उस नीरस वाग्जाल में पाठक रम न

१. Aspects of the Novel, E. M. Forster, p. 93-95.
२. आलोचना, पृ० ३३ : उपन्यास विशेषांक, डा० रामअवध द्विवेदी.
३. An Introduction to the study of Literature (The study of Prose), Hudson, p. 154.

सकेगा। इस प्रकार की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर कतिपय विद्वानों ने कथोपकथन की प्रमुख आवश्यकता की ओर ध्यान दिया है।[१]

कथानक, कथावस्तु में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न करे। स्वाभाविकता चरित्रों के समुचित चित्रण में हो अथवा कथावस्तु के समुचित निर्वाह में। असामयिक वार्तालाप कितना ही मनोरंजक अथवा उपदेशात्मक क्यों न हो, परन्तु उसे उसी प्रकार बहिष्कृत करना चाहिए; जैसे उपन्यासकार नीरस दृश्यावलियों को त्याग देता है। संक्षेप में, कथा वस्तु की एकान्विति पर विशेष ध्यान देने के लिए कथोपकथन उचित रूप में नियोजित किए जाएँ। उपन्यासकार 'बुलर लिटन' (Bulwer Lytton) के समान राजनीति के वादविवादों के श्रेणी के कथोपकथन उपन्यास के लिए "अनुपादेय" हैं। इसके साथ ही कथानक स्वाभाविक, समीचीन और नाटकीय होना चाहिये अर्थात् वह पात्र के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना में समर्थ होना चाहिए। वातावरण का स्थान इसमें द्वितीय है। 'हेनरी अर्थर जोन्स' के अनुसार, वास्तविक जीवन की खटपटों में हम अनाटकीय आवृत्तियों और निम्नता तथा अनावश्यक भाषा का प्रयोग देखते हैं जो कि रंगमंच पर भी और उपन्यास में बहिष्कृत होना चाहिए।[२] परन्तु उपन्यास में रंगमंचीय नियमों की उतनी उपयोगिता आवश्यक प्रतीत नहीं होती। स्वाभाविकता से विरत होने की स्थिति में इन नियमों को भी अनावश्यक माना जा सकता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि अधिकांश लेखक संवादों अथवा कथोपकथनों के द्वारा ही अपने निश्चयों, सिद्धान्तों, कल्पनाओं तथा ज्ञान भंडार का दिग्दर्शन कराने लगते हैं। यह अधिकार का दुरुपयोग है।

---

१. An Introduction to the study of Literature (The study of Prose. p. 154) Hudson.

२. On Playmaking in the Renascence of the English Prose.

.....यदि लेखक को किसी बात की विवेचना करनी है तो वह निबन्ध लिख सकता है। उसको यह जानना चाहिए कि उद्धरण चिह्न लगा देने से ही कोई उक्ति कथोपथन नहीं हो जाती। [१]

४. देशकाल :

किसी कृति को अधिक सजीव, सुलक्षणमय एवं सुसंगत आदि बनाने के लिए रचयिता का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह "देशकाल" का विशेष ध्यान रखे। देशकाल के अभाव में पात्र शून्य में स्थित प्रतीत होंगे। इस तथ्य के अंतर्गत कहानी के सभी उपकरण आ जाते हैं। प्रमुख उपकरण अर्थात् कहानी की योजना में सहायता देने वाले आचार-विचार, राजनीति, रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका और परिस्थिति आदि आ जाते हैं। इस तरह हम देशकाल अथवा बाह्य संविधान के दो भेद कर सकते हैं—सामाजिक तथा भौतिक या प्राकृतिक।[२]

वर्तमान उपन्यास का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता जा रहा है। कला के क्षेत्र की अपेक्षा विज्ञान के कतिपय भागों में भी उसकी पहुँच हो गई है। उपन्यास जीवन की व्यापकता से प्रतिस्पर्धा करता प्रतीत होता है। इस प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप उपन्यासों के वर्ण्य विषयों अथवा स्थानों के आधार पर विभाग और उपविभाग होना प्रारम्भ हो गया है। पाश्चात्य उपन्यास वाङ्मय में उपन्यास का भौगोलिक वर्गीकरण भी दृष्टिगत होता है। जैसे "स्काच उपन्यास" "आयरिश उपन्यास" आदि।[३] हिन्दी उपन्यासों में इस तरह की प्रवृति भी यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। जैसे बुन्देलखंडी वातावरण से संपृक्त वर्मा जी के उपन्यास। परन्तु इससे उपन्यास की पूर्णतः परीक्षा नही होती। कृति की

१. The use of quotation mark does not convert a passage into Dialogue, Arlobates.

२. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २०.

३. An Introduction to the Study of Literature, p. 159. (W. H. Hudson.)

परख उसके वर्णनों की यथार्थता, सूक्ष्मता, प्रभावोत्पादकता एवं कृति में निहित कृतिकार को मंतव्यों से होनी चाहिए। बाह्य संविधान की योजना आंतरिक संविधान को प्रकाशान्वित करने में होनी चाहिए। बाह्य संविधान की योजना जीवन की यथार्थता एवं गहनता बाह्य आडंबर से कम ही होती है। अतएव उपन्यास में तत्व की समाहिति, सुरूचि एवं सुबुद्धि के साथ बाह्य संविधान के उपकरणों का समुचित प्रयोग होना अधिक आवश्यक है।

५. शैली (Style)

उपन्यास में शैली तत्व कई प्रकार के छिटपुट तथ्यों के समावेश करने में निहित है। उपन्यासकार व्यंग्य, विनोद, दया आदि भावों की योजना किस शैली से अपनी कृति में करता है, यह जानना आवश्यक है। अपने क्षेत्र के अंतर्गत वह किस प्रकार से देशकाल का ध्यान रखते हुए इन भावों और विकारों की योजना को यह उपन्यासकार को सोचना पड़ता है। इन्हीं भावों और विकारों की समुचित अभिव्यक्ति के उपयुक्त भाषा, कथोपकथन, पात्र की वेशभूषा आदि की स्थिति होना आवश्यक होता है। शैली लेखक के जीवनदर्शन की अभिव्यंजना करती है। पाठकों के समक्ष कृतिकार का क्या विशेष संदेश है ? इस सबका समाहार शैली तत्व के अंतर्गत होता है।

६. जीवन दर्शन (Philosophy of Life) :

नाटक के समान ही उपन्यास व्यक्तियों के जीवन, उसकी व्यापकता आदि से और उनके आपसी संबंधों तथा आचार विचारों से संबंधित रहता है। अपनी अभिव्यंजना शक्ति के द्वारा ही उसे अपने पात्रों एवं स्वयं का उद्देश्य स्पष्ट करना होता है। "काव्य जीवन की व्याख्या, आलोचना या रहस्य है।" यह वाक्य प्रायः सभी इस तरह कृतियों में लागू होता है। काव्य के समान उपन्यास भी मानव जीवन से संबंद्ध है। नर और नारियों के दुख और सुखों का आकलन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार नाटक आदि। अपने पात्रों और दृश्यों की वर्णन

पद्धति द्वारा उपन्यास पाठकों के समक्ष एक धुंधला-सा जीवन दर्शन रखता है। "महान उपन्यासकार जीवन के विचारक के साथ, निरीक्षक भी होते हैं।"[१] जीवन के विचारक के रूप में उपन्यासकार किसी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन की अनेक गुत्थियों को उनके चरम रूप में देखने के पश्चात्, उनके समाधान की ओर भी दृष्टि करेगा और उसमें जो तथ्य उसे प्रभावित करते हैं, उन्हीं के आधार पर वह कृति का संदेश निर्धारित कर लेता है। इस संदेश को जाने अनजाने में अपनी कृति में भर देता है। जीवन दर्शन से किसी प्रकार की अन्य आदर्शमयी व्यवस्था का अर्थ नहीं लेना चाहिए। नैतिकता सम्बन्धी कार्य ही किसी आदर्श की घोषणा नहीं करते। व्यक्ति के निजी भाव ही उसके आदर्श अथवा जीवन दर्शन को निर्मित करते हैं। वही उन घटनाओं, पात्रों और कथोपकथनों की दृष्टि में सहायक होते हैं। उपन्यासकार किसी प्रकार से किसी दार्शनिक तथ्य के खंडन मंडन के लिए अपनी कृति की रचना नहीं करता है, केवल अपने सिद्धांतों को ही उपस्थित करता है।

जीवन दर्शन के अन्तर्गत दो तत्व हैं १. सत्य और २. नीति। सत्य के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा भ्रमपूर्ण रही है, परन्तु उसका निराकरण उसके शिष्य अरस्तू ने कर दिया था। अरस्तू ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि काल्पनिक कृतियों में एक काव्योचित सत्य भी निहित रहता है। जो ऐतिहासिक तथ्यों की अक्षरशः वर्णनवाली सत्यता से गूढ़ और व्यापक होता है। इतिहास का सम्बन्ध जो "था" या "है" उससे ही रहता है परन्तु उपन्यास उससे थोड़ा और आगे बढ़ जाता है। एक प्रत्युत्पन्न मति का कथन है कि "उपन्यास में नाम और तिथि के अतिरिक्त और सब सत्य होता है इतिहास में नाम और तिथि के

१. An Introduction to the study of Literature, p. 163 (The great novelists have been thinkers about life as well as observers of it.)

अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं होता।"*

उपन्यास में नीति तत्व को भी सत्यता के तत्व के समान व्यापकता मिलती है। किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के लिए लिखे गए उपन्यास को प्रायः पाठक सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं, परन्तु यह भी आवश्यक नहीं कि बिना उद्देश्य के कोई कृतिकार कृति का प्रणयन करे। नीति कहानी के विन्यास में ही निहित होना आवश्यक है। वे कलाकार जो महती की आकांक्षा करते हैं, नीति के विरुद्ध अथवा उससे उदासीन नहीं हो सकते हैं।[१] अतएव यह स्पष्ट है, कला और नीति का मार्मिक सम्बन्ध है। कला जीवन से उत्पन्न होती है और जीवन द्वारा पोषित होती है और सुन्दर जीवन की परिचारिका नीति है। इस प्रकार नीति और सत्य कलाकार के जीवन दर्शन को अधिक व्यापक एवं गहन बनाते हैं।

उपन्यास के प्रकार :

उपन्यास वाङ्मय की प्रगति के साथ प्रकार वृद्धि भी अधिक हुई है। आधुनिक काल में अनेक प्रकार के उपन्यासों के नाम मिलते हैं। इनमें से कुछ तो विशेष तत्व, चरित्र या घटना आदि को आधार बनाकर लिखे जाते हैं और कुछ वर्ण्य वस्तु पर। तत्वों की प्रधानता के कारण उपन्यासों के विभेद मुख्यतः तीन किए जाते हैं। घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और घटना-चरित्र प्रधानः "नाटकीय"। इसी प्रकार वर्ण्य वस्तु के विचार से सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, यौन और प्राकृतिक आदि अनेक भेद किए गए है। इन सभी

*A wit has said, "In fiction everything is true except names and dates; in history nothing is true except names and dates. (p. 167)

१. On Poetry as criticism of Life, p. 225, John Edington Semonds.

प्रकार के उपन्यासों के वर्गीकरण को हम चार मुख्य शीर्षकों में नियोजित कर सकते है : घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, नाटकीय और ऐतिहासिक। वर्ण्य वस्तु का विशेष महत्व नहीं आता है। कोई भी उपन्यास वर्ण्य वस्तु से हीन न होगा उसमें समाज अथवा राजनीति किसी न किसी प्रकार के विषय को आधार बनाना तो अवश्य होगा ही। वैसे प्रत्येक उपन्यास में उपन्यासोचित सभी तत्वों का समावेश होगा, परन्तु प्रधानता किसी एक तत्व की होगी। उपन्यासकार की दृष्टि के अनुसार भी व्यक्ति उपन्यासों के भेद करते हैं। आदर्शवादी, यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक। इनमें आदर्शवादी और यथार्थवादी में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की अत्याधुनिक धारा उपन्यास वाङ्मय को व्यापकता देती है। व्यक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों का, विकृतियों का, स्वस्थ और अस्वस्थ रूप इन उपन्यासों में दृष्टिगत होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास आधुनिक युग की विशेष स्मृति हैं। पूर्व के उपन्यासों में मनोविज्ञान का पुट अवश्य रहता था, परन्तु वह इतने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं आया था।

१. **घटना प्रधान उपन्यास** : विभिन्न घटनाओं के संयोजन से कहानी की धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती रहती है और किसी महत्वपूर्ण घटना में समाप्त हो जाती है। इसमें प्रत्येक घटना में कौतुहल और आश्चर्य के तत्व विद्यमान रहते हैं। यह दादी नानी की कहानियों का परिवर्धित रूप है। इसमें पाठक का आकर्षण नायक के प्रति न होकर घटनाओं के ऊपर होता है।" हम यह देखने को उत्सुक रहते हैं कि माया रानी उस बन्द कोठरी में से कैसे निकली, इंद्रजीत सिंह ने कैसे तिलस्म में प्रवेश किया, गोपाल सिंह कुएं में दफनाए जाने पर भी कैसे माया रानी को चकित करने के लिए जीवित निकल आए आदि····· बाबू देवकी नन्दन खत्री की दिमागी टकसाल से निकले

हुए वे पात्र सर्व शक्तिशाली हैं।"[१] ऐसे उपन्यासों में यह आवश्यक नहीं कि कार्य और स्थान में आधार आधेय का सम्बन्ध हो। घटनावलियों का शुद्ध आकर्षण आधुनिक लेखक नही दे सकते हैं।

इसी उपन्यास से मिलता-जुलता एक उपन्यास और होता है जिसकी सीमाएं नियन्त्रित होती हैं और अधिक कुशलता से जिसकी रचना की जाती है। इसे अंग्रेजी में रोमांस कहते हैं। यह भेद भी कौतुहल-जागृति को अपना उद्देश्य मानता है। कुतूहल की मात्रा घटनाओं का निश्चित क्रम स्थापित करके बहुत बढ़ाई जा सकती है। इसी में यदि पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय तो लेखक पाठकों में आशा, निराशा, भय, आशंका आदि तीव्रतम रूप में उद्‌बुध कर सकता है। आनन्द की निर्मिति को वह उपन्यासों का अन्त भी सुखद बना सकता है। "चन्द्रकान्ता" सदृश उपन्यासों में घटनाओं का एक सघन जाल बुन जाता है और जिसकी परिसमाप्ति अलौकिक तत्वों के द्वारा की जाती है। क्रिया व्यापार, उसकी जटिलता की वृद्धि और स्पष्टीकरण में हमारी वृत्ति लीन रहती है और इसी में हमारा मनोरंजन भी होता है। संक्षेप में, उपन्यास के सम्बन्ध में हम जो कहते हैं, वह भी नवीन होना चाहिए।[२] और इस कारण उपन्यास का अति सामान्य रूप वह कहानी है, जिसमें घटनाओं की सफलता आश्चर्यमयी एवं सफलातापूर्वक हो।[३]

इस प्रकार इस उपन्यास में कथा का चढ़ाव-उतार लेखक की इच्छा के अनुसार होता है, तर्क बुद्धि के आधार पर नहीं। ऐसे उप-

१. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव: हिन्दी उपन्यास, पृ० ३१, ३२.

२. The structure of the Novel. (The Novel of Action), p. 17, Edwin Muir.

३. The most simple form of prose fiction is the story which records a succession of events, generally marvellous. (p. 17). Ibid.

न्यासों का साहित्यिक मूल्य नहीं होता है। इसमें जासूसी उपन्यास भी आते हैं। इन उपन्यासों की हिन्दी में भरमार है। समय की माँग के अनुसार इनका प्रणयन होता है और समाप्ति भी होती है। ये उपन्यास देश काल की परिधि से सर्वथा मुक्त रहते हैं। कथोपकथन और अन्य तत्व इनमें किसी विशेष उद्देश्य से नहीं, काम चलाने के लिए निहित किए जाते हैं।

२. **चरित्र प्रधान** : घटना प्रधान उपन्यासों की भाँति ही संपूर्ण आकर्षण पात्रों के कार्य कलापों पर निर्भर रहता है। इनका कोई निश्चित कार्यक्रम या पूर्व निर्धारित अन्त नहीं होता। चरित्र कथा वस्तु के अंश नहीं हैं। वह स्वतंत्र होकर अपना कार्य व्यापार बढ़ाते हैं, यद्यपि घटना प्रधान उपन्यासों में चरित्रों की विशेषताओं का स्पष्टीकरण विभिन्न घटनाओं से होता है। पर चरित्र की प्रधानता के कारण इन उपन्यासों में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम किसी सुपरिचित भूमि भाग की नवीन विशेषताओं का अवलोकन उस पर गिरती हुई छाया और प्रकाश से करते हैं अथवा उसे सर्वथा नए रूप से देखते हैं।[१]

The task of the novelist is more like the choreographer's than the dramatists, he has to keep his figures moving rather than acting, and for the most part he has than marked. (p. 26.) Ibid.

जैनेन्द्र कुमार के "सुनीता" उपन्यास के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि कहानी कोई निश्चित कार्य के लिए नहीं बढ़ रही है, उसका अन्त अनिश्चित है। किसी भी समय वह समाप्त हो सकती है। इन

---

१. They are like a familiar landscape, which now and then surprises us when a particular effect of light and shadow alters it, or we see it from a new prospect. (pps. 23, 24.) Ibid

उपन्यासों के चरित्र कथावस्तु के ही एक भाग नहीं होते, उनकी पृथक सत्ता होती है। सुनीता के श्रीकांत, हरिप्रसन्न तथा सुनीता अपना अलग अलग अस्तित्व रखते हैं। परिस्थितियाँ उनके इशारों पर चलती हैं। आरंभिक पृष्ठों में पात्रों का जो परिचय मिलता है वह अंत तक उपन्यासों में विद्यमान रहता है। उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता विशेष प्रतीत नहीं होती। कतिपय विद्वान इस अपरिवर्तनशीलता के दोष को मिटाने के पक्ष में हैं, परन्तु चरित्र प्रधान सभी उपन्यासकार इसे दोष न मानकर एक नियम बना लेते हैं। जीती-जागती वस्तुओं में ही गति-हीन बनकर वे स्पष्ट अन्तर लक्षित करना चाहते हैं।

कथा-वस्तु का कार्य केवल इतना होता है कि पात्रों की आरंभ से ही उपस्थित भिन्न-भिन्न विशेषताओं को सामने लाकर रख देना तथा उन्हें नई-नई स्थितियों में रखकर और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में परिवर्तन करके उनका एक जाति अथवा वर्गगत व्यवहार दिखलाना। उग्र जी के "दिल्ली का दलाल", "बुधुआ की बेटी", (मनुष्यानंद) "शराबी" आदि उपन्यासों के पात्रों में इसी वर्गगत भावना का प्राधान्य है। चरित्रों को पूर्णतः अनावृत करने के लिए विभिन्न स्थितियों की सर्जना लेखक की शक्ति पर निर्भर करती है। चरित्र प्रधान उपन्यास-कारों में हिन्दी साहित्य में श्री जैनेन्द्रकुमार, उग्र, ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि प्रमुख आते हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य सब प्रकार के विभेदों से पूर्ण है।

३. नाटकीय उपन्यास (Dramatic Novel) : चरित्रप्रधान उपन्यासों के सदृश ही नाटकीय-उपन्यास उपन्यासों के विभिन्न प्रकारों में महत्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासों में कथा पक्ष का सुन्दर सामंजस्य होता है। कथावस्तु और चरित्र दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध रहता है। पात्रों की मनोवृत्ति और क्रियाशीलता ही भविष्य का कार्य कलाप निश्चित करती है। नाटकीय उपन्यास से यह भासित होता है कि

प्रकृत रूप और सत्य एक ही हैं और इसमें चरित्र ही घटना है और घटना ही चरित्र है।[१]

इन उपन्यासों में कथावस्तु का कोई बाहरी ढांचा नहीं होता; जिसमें पात्र उठाकर रख दिए गए हों, जैसा घटना प्रधान उपन्यासों में होता है। इनमें घटनाओं और चरित्रों को एक समुचित रूप से संगठित किया जाता है। घटना के परिवर्तन होने से पात्रों में भी परिवर्तन दृष्टिगत होना प्रारंभ होता है। प्रत्येक परिवर्तन नाटकीय अथवा मनोवैज्ञानिक, बाह्य अथवा आंतरिक अंशतः दोनों के द्वारा होता है। इसके विपरीत चरित्र प्रधान उपन्यासों में उनके गुण बदलते नहीं हैं। नाटकीय उपन्यास का पात्र आरंभ की अपेक्षा अंत में सर्वथा परिवर्तित मिलता हैं। हम कह सकते है कि घटनाओं और पात्रों में कार्य कारण संबंध होता है। घटनाओं का पथ लेखक ही निर्धारित करेगा परन्तु उनका संचालन रूप प्रधान जीवन के नियमों के द्वारा होगा। नाटकीय उपन्यास समयसापेक्ष होते हैं। समय की गति के साथ ही घटनाओं और चरित्रों में विकास होता है और इसी कारण "गबन" के "रमानाथ" को उपन्यास के अंत में हम दूसरे रूप में पाते हैं। यह सुनीता के हरि-प्रसन्न से सर्वथा पृथक है। सुनीता के बीच के अंश को पढ़ने से वंचित भी रह जाय तो उसके चरित्र का सही मूल्यांकन पूर्व के भाग से कर सकते हैं। पर रमानाथ के चरित्र परिवर्तन के लिए, हम बीच का भाग किसी सीमा पर छोड़ने को तैयार न होंगे। इसी समयसापेक्षता के कारण, इन उपन्यासों का अंत भी असाधारण गति से होता है। घटनाओं के साथ चरित्र चित्रण का अंत हो जाता है। रंगभूमि की सोफिया और विनय की मृत्यु इन दोनों के चरित्रों पर अंतिम प्रकाश

---

१. The Dramatic Novel shows that both appearance and reality are the same and that character is action and action character. (pps. 46-47) Ibid.

डालकर उपन्यास की परिसमाप्ति करती है। अतएव घटना चक्र को आरंभ करने वाली समस्या पूर्ति ही उपन्यासों का अन्त है। संक्षेप में, नाटकीय उपन्यासों का अंत चित्रकार के अंतिमस्पर्श (Finishing touch) के सदृश होता है जिससे मूर्तियाँ स्पष्ट और पूर्ण प्रतीत हों। नाटकीय उपन्यास की कथावस्तुत विस्तृत न होकर गुंफित होती है।[१] हिन्दी में नाटकीय उपन्यासों का आरंभ प्रेमचन्द के उपन्यास से हुआ है। होरी के जीवन का उत्थान-पतन गाँव में दिखा देना कुशल उपन्यासकार प्रेमचन्द का ही कार्य है। उसमें मनोवैज्ञानिकता का भी विशेष पुट मिलता है। परन्तु अंत की रूपरेखा पूर्व कथित ही होती है।

नाटकीय उपन्यास स्थान की दृष्टि से सीमित और समय की दृष्टि से स्वतंत्र रहता है। इसके साथ ही चरित्र प्रधान उपन्यास समय में सीमित रहता है और स्थान में स्वतंत्र रहता है। ऐसा क्यों होता है ? यह नाटकीय उपन्यास में सघनता, संघर्ष आदि के स्थित करने के लिए आवश्यक है। समय की स्वतंत्रता चरित्र प्रधान उपन्यास में नहीं है और स्थान की स्वतंत्रता घटना- प्रधान में। परन्तु दोनों की स्वतंत्रता नाटकीय उपन्यास में एक अद्‌भुत अपूर्व वस्तु की रचना करती है।

४. ऐतिहासिक उपन्यास : नाटकीय उपन्यास में यदि देशकाल चित्रण को विशेष महत्व दे दिया जाय तो वह ऐतिहासिक उपन्यास की कोटि में आ सकता है। वैसे देशकाल चित्रण सभी उपन्यासों में पाया जाता है परंतु ऐतिहासिक उपन्यास में उसकी उत्तमता और सत्यता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इनका उद्देश्य कथावस्तु और चरित्रों का किसी विशेषकाल के जीवन के साथ समन्वय करना होता है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों के दो विभाग किए जा सकते हैं।

---

१. The Dramatic Novel shows that both appearance and reality are the same and that character is action and action character. (Edwin Muir)

१. शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास, जिसमें देश और काल के साथ पात्र भी ऐतिहासिक होते हैं। जैसे झाँसी की रानी, गढ़ कुंढार।

२. ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास, जिसमें देश और काल की ऐतिहासिकता के साथ पात्रों की कल्पना चलती है। ये अधिकतर ऐतिहासिक चौखटे में जड़े प्रेमचित्र होते हैं। विराटा की पद्मिनी इस प्रकार का उपन्यास है।[१]

ऐतिहासिक उपन्यास का प्रभाव और आकर्षण अतीत के निर्मल पावन-जीवन की ओर अवश्य रहता है। इतिहास के नीरस तथ्यों पर ही उपन्यासकार को अपनी कल्पना के द्वारा उपन्यास सृष्टि करनी पड़ती है अर्थात् इस प्रकार के उपन्यासों में उपन्यासकार की कल्पना शक्ति अधिक प्रखर एवं तीव्र होना चाहिए। चित्रोपम सजीवता कल्पना की सामर्थ्य से ही प्राप्त हो सकती है। "ऐतिहासिक उपन्यास भूत की विचार-पद्धति, वातावरण, मनोविज्ञान आदि की पुनः रचना करने का वह प्रयास है, जिसके संपर्क से उपन्यासकार सदा वंचित रहा है।"[२]

ऐतिहासिक उपन्यासकार को यह ध्यान में रखना होगा कि उपन्यास में इतिहास अथवा काल विरुद्ध बातें न आ जाएं। इसी तथ्य की उपेक्षा ने पं० किशोरीलाल गोस्वामी के "तारा" नामक ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व खो दिया है। कल्पना का प्रयोग भी इतिहास सिद्ध तथ्यों की सत्यता का ध्यान रखते हुए होना चाहिए। किसी दुष्ट को सज्जन चित्रित करना उतना युक्तिसंगत न होगा; जितना उसकी

---

१. हिन्दी उपन्यास, श्री शिवनारायण श्री वास्तव, पृ. ४३.

२. The historical novel is an attempt to reconstruct the atmosphere, the habits of thought, the prevailing psychology of a generation with which the writer has had no intimate contact. (Edwin Muir)

परिस्थितियों और घटनाओं को नवीन रूप से, नवोन कारणों से चित्रित करके पात्र की दुष्टता को कम करने में उसे सफलता मिलेगी। इतिहास का तथ्य विशेष होने के कारण उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि उस काल का वर्णन, आचार-विचार, रीति, प्रकृति, स्वभाव निदर्शन आदि का यथार्थ चित्रण करे। अकबर और जहाँगीर अथवा प्रताप और शिवाजी को आधुनिक वेशभूषा में चित्रित करना हास्यास्पद होगा। पुरातत्व विभाग के तथ्यों का ज्ञान रखना भी इतिहासकार को आवश्यक हो जाता है। रूढि आदि के अध्ययन के लिए समाज शास्त्रीय ज्ञान की भी उपन्यासकार को अपेक्षा है।

उपर्युक्त उपन्यास विभाजन की अपेक्षा बीसवी सदी में प्रचलित मनोवैज्ञानिक उपन्यास अधिक महत्ता प्राप्त कर रहा है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास की प्रमुख विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास : चूंकि जिस उपन्यासकार की कृतियो का अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक में हम कर रहे हैं, वे एक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार माने जाते हैं इसलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यास की विशेषताओं का अध्ययन हम विशद रूप मे एक स्वतंत्र अध्याय में करेगे।

३

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का आरंभ :

लियां एडिल के अनुसार मनोवैज्ञानिक-उपन्यास का आरंभ तीन व्यक्तियों से होता है--फ्रांस के "मार्शल प्रूस्त", इंगलैंड की "डोरोथी रिचर्डसन" और आयरलैंड के "जेम्स जायस" प्रथम महायुद्ध के प्रस्तावना काल में क्रमशः "रिमेम्ब्रेंस आफ द थिंग्स पास्ट", "पिल्ग्रेमेज" और "ए पोट्रेट आफ द आर्टिस्ट एज ए यंग मैन" नामक उपन्यासों के साथ मनोविज्ञान संबंधी विषय लेकर प्रस्तुत हुए। इन तीनों की कृतियों के आधार पर यह अनुमान होता है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास का जन्म १९१३ और १९१५ के बीच में हुआ।[१] यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख चार सम्प्रदायों की आरंभ तिथियां क्रमशः १९०० (मनोविश्लेषण), १९०८ (प्रयोजनवाद), १९१२ (व्यवहारवाद), १९१२ (आकृतिवाद) मानी गई हैं।[२] अतएव मनोवैज्ञानिक उपन्यास के आरंभ के विषय में एडिल की धारणा आधुनिक मनोविज्ञान की तिथि के अनुकूल है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास की पृष्ठभूमि:

अपने विकसित स्वरूप में मनोवैज्ञानिक उपन्यास आधुनिक युग की उपज है; किन्तु उसमें प्रतिष्ठित तत्वों का संकेत हमें कुछ पूर्व से ही

---

१. Leon Edel, The Psychological Novel, p.11.

२. Murphy, Contemporary Schools of Psychology, p.17.

मिलने लगता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास की प्रथम विशेषता—मानसिक वस्तु का चित्रण—मोपासां और दास्तोएव्हसकी की कृतियों में मिलती है। ये दोनों ही लेखक अपने अपने देश के यथार्थवादी और प्रकृतिवादी आंदोलन के शिखर पर उपस्थित हुए। उल्लिखित मतों की स्वीकृति के साथ एक पक्ष में दोनों विद्रोही भी थे। प्रकृतिवाद ने मनुष्य को पूर्णतया परिस्थिति के खिलौने के रूप में देखा। उस दृष्टिकोण से निर्मित रचनाओं में बाह्य जगत और उसकी शक्तियों का निरूपण बहुत विस्तार के साथ हुआ, किन्तु मनुष्य की आत्मा अथवा उसके अंतरंग की अभिव्यंजना या तो उपेक्षित रही अथवा अपेक्षातर दुर्बल। पश्चिम में यथार्थवाद की अतिवादिता ने एक विद्रोह को जन्म दिया। इस विद्रोह का लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रमुख महत्व देते हुए उसकी अन्तःसत्ता का विशद उन्मीलन करना था। काव्य के क्षेत्र में यह विद्रोह प्रतीकवाद के रूप में आया। भिन्न रूप में वह चेखव के तथाकथित प्रतीकवादी और गतिशून्य नाटकों में प्रकट हुआ। व्यक्तिवादी विद्रोह को अग्रसर करने में मनोविज्ञानवेत्ता तो बाद में आए; किन्तु साहित्यकार उसके अग्रदूत थे, यद्यपि यह सच है कि अपने आगमन के साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान ने उपन्यास को घनिष्ठ रूप में प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। दास्तोएव्हसकी और मोपासाँ ने अपनी श्रेष्ठकला मनुष्य के आन्तरिक चरित्र के उद्घाटन और अंकन में प्रयुक्त की। इस पृष्ठभूमि से आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों ने दो तत्व ग्रहण किए हैं। शैली के क्षेत्र में तो उन्होंने यथार्थवाद की तटस्थता और वस्तुपरकता अपनाई है; किन्तु वस्तु के क्षेत्र में वे उल्लिखित विद्रोह के अनुरूप मानसिक वस्तु को स्वीकार करते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का मूल वशिष्ट्य :

आधुनिक पूर्ण विकसित मनोवैज्ञानिक उपन्यास मनोवैज्ञानिक वस्तु

को लेकर चलने वाले दास्तोएव्हसकी जैसे उपन्यासकारों की कृतियों से बहुत भिन्न हैं। इन पुरानी रचनाओं में वस्तु मनोवैज्ञानिक होने पर भी रूप कथानक प्रधान अथवा इतिवृत्तात्मक है। उपन्यासकार स्वयं अपने शब्दों में अन्य वस्तुओं के समान मानसिक वस्तु का भी वर्णन करता है। इस प्रकार उपन्यासकार पाठक और कृति के बीच में माध्यम बना रहता है। और उसकी उपस्थिति समय समय पर प्रतीत होती रहती है। किन्तु यह विधि तटस्थता के नियम के अनुकूल नहीं है। 'तटस्थता' का अर्थ ही यह है कि पाठक सीधे कृति के समक्ष हो और उपन्यासकार के अस्तित्व का अनुभव न करे। मनोवैज्ञानिक उपन्यास कथानक अथवा इतिवृत्त का आश्रय लेकर नहीं चलता। उनमें इन स्थूल तत्वों का अभाव सर्वप्रथम उनकी मौलिकता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। तटस्थता के नियम के अनुकूल उनका लक्ष्य मानसिक वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत करना होता है, कि पाठक को वह प्रत्यक्ष अनुभव के समान प्रतीत हो।

मानसिक वस्तु का भी मनोवैज्ञानिक उपन्यास में विशिष्ट अर्थ है। वर्णन में जिस रूप में वह हमें प्राप्त होती है; वह उसका विश्लिष्ट रूप है। अनुभव के पश्चात् उसका विश्लेषण करके उसे किसी कृति में प्रस्तुत कर देने से मनोवैज्ञानिक उपन्यास का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उसका उद्देश्य तो अनुभव के क्षण को उसकी संपूर्ण गतिमानता और सजीवता में पकड़ना होता है। अनुभव की व्याख्या नहीं; किन्तु स्वयं अनुभव उसकी वस्तु होती है। इसीलिए 'चेतना का प्रवाह" (Stream of consciousness) को मनोवैज्ञानिक उपन्यास की वस्तु कहा गया है।[१]

किन्तु 'चेतना के प्रवाह' को पकडना लगभग असंभव प्रतीत होता है क्योंकि उसकी सक्रियता के क्षण में कोई दूसरी बात मन में आ जाने

१. Leon Edel, The Psychological Novel ; p. 53.

पर उसके मौलिक स्वरूप की क्षति होती है। परिणामतः जो हम चाहते हैं उससे भिन्न वस्तु ही हमें प्राप्त होती है। इस प्रकार उसे क्षतिग्रस्त किए बिना कृति में उसे प्रस्तुत कर देना ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की सबसे बड़ी समस्या होती है। इस समस्या को सुलझाने में 'मार्शल प्रूस्त', 'रिचर्डसन' और 'ज्वाइस' जैसे कलाकारों ने स्वतन्त्र शैलियों की उद्भावना की है। मार्शल प्रूस्त ने एकान्त में रहकर अपने विगत जीवन की स्मृतियों के चित्रण को अपना विषय बनाकर यदि एक शैली अपनाई है तो ज्वाइस ने "यूलिसिस"[१] में डबलिन के जीवन को वस्तु बनाकर एक दूसरी ही शैली प्रवर्तित की है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उच्चतम कोटि का मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बनने के लिए सामान्य विशेषताओं के साथ अपनी एक विशिष्ट शैली की उद्भावना भी आवश्यक होती है।

"चेतना के प्रवाह" के कलात्मक पुनर्निर्माण में एक तीसरी कठिनाई भी है। किसी क्षण-विशेष की चेतना में भी असंख्य उपतत्वों का योग रहता है, जिनसे उसकी विशिष्टता निर्मित होती है। क्या लेखक के लिए यह संभव है कि ऐसे समस्त उपतत्वों का चित्रण वह कर सके? यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके द्वारा अंकित चेतना-प्रवाह वैशिष्ट्य विरहित और रंगहीन हो जाता है, अतएव लेखक चयन तो करता है, किन्तु उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि चयन का आभास न मिले।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास और अन्य उपन्यासों में अंतर :

मनोवैज्ञानिक उपन्यास की जो मौलिक विशेषताएं ऊपर अंकित की गई हैं; उनके कारण उसका स्वरूप अन्य उपन्यासों से बहुत भिन्न हो जाता है। सर्वप्रथम उसमें इतिवृत्त का आश्रय नहीं रहता। यदि पात्र बहुत से हों तो उनकी चेतना का चित्रण असंभव नहीं तो बहुत कठिन

१. Leon Edel, The Psychological Novel, P. 76

अवश्य हो जायगा, इसलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पात्रों की संख्या बहुत सीमित होती है। वर्णन के परित्याग के कारण संवाद मनोवैज्ञानिक उपन्यास का मुख्य अंग बन जाता है। आन्तरिक स्वगत भाषण (Internal Monologue) [१] का भी विशद प्रयोग होता है। कृति की एकता, संगीतात्मक रूप विधान पर आश्रित रहती है। इसे संपन्न करने के लिए प्रतीक योजना काम में लाई जाती है, जो उसी प्रकार भावों के संकेत करते हैं जैसे संगीत में स्वरमेल से होता है। किसी प्रकार की व्याख्या न करके लेखक अपनी कृति को प्रत्यक्ष अनुभव का स्वरूप प्रदान करता है। जैसे त्रिआयाम वाले (Three dimensional) चलचित्रों में दर्शक केवल दर्शक के रूप में अनुभव न करके स्वयं को चलचित्र में भाग लेने वाला समझता है वैसे ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक स्वयं को उसमें अंकित अनुभव का भागी समझता है। ऐसे प्रभाव की सृष्टि करना मनोवैज्ञानिक उपन्यास का कलात्मक लक्ष्य है।

उपर्युक्त तथ्यों का विश्लिष्ट आकलन :

मनोवैज्ञानिक उपन्यास से सम्बद्ध उपर्युक्त तथ्यों का संक्षेप में इस प्रकार आकलन किया जा सकता है।[२]

१. सुसंगठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता होती है। इसमें कथानक की कड़ियों की बारीकी पर ध्यान नहीं दिया जाता। घटनाएं गौण और उपलक्षण मात्र होती हैं।[३] "प्वाइंटेड रूफ" में रिचर्डसन के उपन्यास में चालीस पृष्ठ पढ़ने के पश्चात् भी नायिका मिरियम का पूर्व नाम हेन्डरसन जानने पर हमें ज्ञात होता है कि वह अब भी सत्रह वर्षीया सौ पृष्ठों तक वर्णित है। इस प्रकार पात्रों के आन्तरिक भावचक्र को स्पष्ट करना ही इन घटनाओं का कार्य है।

१. Leon Edel, The Psychological Novel. p. 53.
२. श्री देवराज उपाध्याय आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ. २६.
३. "There is no story, no plot," The Psychological Novel, p. 15.

२. कथा भी कोई लम्बी चौड़ी दीर्घकालीन और महाकाव्य की तरह जीवन के वृहद् अंश को घेरने वाली न होगी। विस्तार से अधिक गहराई की ओर लेखक का विशेष ध्यान होगा। रूसी उपन्यासों में मनोविकृत विज्ञान की सूक्ष्मता को आग्रहपूर्वक समाविष्ट करने का श्रेय दास्तोएव्हसकी को है। "अपराध और दण्ड" में केवल पांच दिनों की कथा है। अज्ञेय की "शेखर एक जीवनी" नामक कृति में एक रात को देखे गए विजन का प्रोक्षेपण है। अन्य उपन्यास भी जैसे 'नदी के द्वीप', 'सराय' और 'निर्देशक' इसी प्रकार कम समय के उपन्यास हैं।

३. पात्रों की न्यूनता का प्राधान्य रहता है। अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि के उपन्यासों में यथासम्भव न्यूनता परिलक्षित होती है।

४. वार्तालाप की छटा मनोविज्ञान के प्रदर्शन में अधिक सहायक होगी। उपन्यास पूर्व समय में घटनाओं से लादा जाता था। (वह) पाठक सोचता था कि मुझे हास्य प्रदान करो, आंसुओं से गीला करो, दुष्ट और प्रेमियों के सम्बन्ध में कुछ कहो और एक कहानी कहो, जो स्थल पर साथ ही पृष्ठ पर मुझे दत्तचित रखे।[१] परन्तु आधुनिक विषयी प्रधान उपन्यास इस व्यवस्था से भिन्न स्थिति में पाठक को रखता है। आजकल मस्तिष्क की कलात्मक अभिव्यक्ति है, जो पाठक जितना अधिक बुद्धि का प्रयोग कर सकेगा, उतना ही अधिक आनन्द ले सकेगा।[२] आधुनिक उपन्यासों में अर्थ से इति तक वार्तालाप ही अधिक मिलता है।

५. मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता से नाटकीयता अधिक दृष्टिगत होती है। घटनाओं का संयोजन इस प्रकार होता है

---

१. "Bugile me, offer me comedy and tears. Tell me about droll people and lovers and a story that will keep me rooted to the spot and my eyes glaved to page". The Psychological Novel, p. 26.

२. Ibid. p. 26.

कि वे स्वयं स्फूर्त हों, शक्तिमान हों, उन्हें पद-पद पर लेखक के साथ चलने की अपेक्षा न हो। देवराज जी ने एक रूपक द्वारा इसे स्पष्ट किया है। "नदी की लहरों में बहते हुए एक कार्क के टुकड़े में कार्क के टुकड़े घटनाएं हैं। नदी की लहरें पात्रों की चेतना हैं, जिनके वात्या-चक्र पर डूबते-उतराते वे हमारा मनोरंजन करते रहते हैं। कार्क तो छोटा सा टुकड़ा मात्र है जो नदी की लहरों की उन्मत्तता बन गया है।"[१] घटनाएं छोटी भली हों पर मानव मन के उन्माद से समन्वित हैं।

६. पाठक की प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक उपन्यास से भिन्न कोटि की होती है। पाठक की दृष्टि अंतर्मुखी होगी। जैसा व्यक्ति का मस्तिष्क होगा (उपन्यास में) वैसे ही पाठक की रोचकता के लिए प्रयास करना आवश्यक होगा।[२] अतएव मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की जानकारी में आत्मीयता की आर्द्रता रहती है। उन्हें हम इस तरह जानते हैं जैसे अपने साथी को। इस प्रकार वर्णनात्मक उपन्यास के समान पाठक का सम्बन्ध उपन्यास के पात्रों से नही रहता है। यहाँ पाठक भिन्नता का अनुभव करता है।

७. मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता और उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में भी भिन्नता है। घटनाप्रधान उपन्यासकार पात्रों से अलग हटकर अपनी सर्वव्यापिनी दृष्टि से पात्रों की गतिविधि का अवलोकन करता है और उसकी रिपोर्ट देता चलता है। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपने पात्रों का घनिष्ठ मित्र होता है। वह जो कुछ कहता है; वह स्वतः पूर्ण है। उसे किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नही रहती जैसे अन्य उपन्यासों में।

८. मनोवैज्ञानिक उपन्यास में अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ. ३०.

२. Leon Edel, The Psychological Novel, p. 24,

(Subjective aspect of experience) अभिव्यक्ति ही लक्ष्य रहता है। लेखक चाहता है कि कथा, घटनाएं अपनी प्रधानता त्यागकर पात्रों की मानसिकता—उसके मानस की प्रवहमानता को परिस्फुटित कर नजरों से ओझल हो जाय। "कथा दृढ़ चट्टान की तरह सर ताने खड़ी नहीं रहती, पर निरीह नदी की तरह होती है जो जरा ढलान पाते ही बह चलती है, वह गीली मिट्टी की तरह नम्र होकर मूर्ति का रूप धारण कर लेती है।"[१]

९. उपन्यास कला नाना वेश धारण करती है। कभी आत्म कथात्मक, तो कभी पत्रात्मक, कभी डायरीनुमा, कभी चेतना-प्रवाहात्मक (Stream of consciousness) और कभी सबों का सम्मिश्रण आदि विभिन्न रूपों में मिलती है। "कलाकार को अपनी कृति में ईश्वर के समान निर्मिति में, अदृश्य और सर्वशक्तिमान रहना पड़ता है। वह सर्वत्र अनुभूत होता है, परन्तु दिखता कहीं नहीं।"[२] अतएव विचारों को, चाहे आत्मकथात्मक रूप में, या चेतना-प्रवाहात्मकता के रूप में स्वयं बिना उपन्यासकार के वर्णन किए पाठकों के समक्ष आना चाहिए।[३]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास और आधुनिक मनोविज्ञान :

मनोवैज्ञानिक उपन्यास की उत्पत्ति सीधे आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव के परिणाम स्वरूप नहीं हुई। पश्चिम में वह व्यक्तिवादी विद्रोह का उपकरण और अभिव्यंजक बनकर सामने आया। जो दृष्टि-

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ. ३२.

२. The artist ought to be in his work like God in creation, invisible and all powerful. Let him be felt every where but not seen. Flaubert, p. 24.

३. The thoughts whether stream of consciousness or internal monologue must speak for themselves without his intervening as narrator. Leon Edel, The Psychological Novel, p. 24.

कोण काव्य को प्रतीकवाद की ओर ले गया, वही मनोवैज्ञानिक उपन्यास की मूल प्रेरणा रहा है। पश्चिम के समीक्षकों के अनुसार इस युग के कलाकारों ने बाह्य वास्तविकता से असंतुष्ट होकर अन्तरात्मा के नए क्षेत्र में यात्रा की है।[1] इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यास उनकी विशिष्ट पृष्ठभूमि में एक सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और केवल प्रभाव से कहीं अधिक गंभीर वस्तु है। अभिनव होते हुए भी पश्चिम की साहित्य परम्परा से उसके सूत्र जुड़े हुए हैं और इन आवश्यक अनुषंगों के अभाव में उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

यह सत्य है कि आधुनिक मनोविज्ञान की निष्पत्तियों और विधियों का उपयोग भी विभिन्न रूपों में और विभिन्न सीमा तक पश्चिम के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में किया गया है। मानवीय व्यक्तित्व के विलक्षण स्तरों, मानव मन की वैचित्र्यमय कार्यप्रणाली और अंतश्चेतन के तत्वों तक पहुँचने की विश्लेषणात्मक विधि ऐसी वस्तुएं हैं, जो उपन्यास को अधिक वास्तविक और वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए उपयोग में लाई गई हैं। अपनी मौलिक और व्यापक शैली के अंतर्गत लेखकों ने मनोवैज्ञानिक युक्तियों का भी समावेश किया है। वाक्य रचना और भाषा का सामान्य स्वरूप में भी नवीन उद्भावनाएं की गई हैं। प्रतीक और अनुश्रुतियों के सचेत प्रयोग से सूक्ष्म अर्थों की व्यंजना सिद्ध की गई है। बहुत से नए शब्द भी गढ़े गये हैं; जिनका अचानक अर्थ समझ में नहीं आता। सबसे अधिक उपयोग फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त के तत्वों का हुआ है। लेखकों ने शब्दों के द्वारा कलात्मक माध्यम में वही स्वरूप निर्मित करने का प्रयास किया है, जो स्वप्न का होता है। स्वप्न का संगठन बौद्धिक अथवा तार्किक एकता पर आश्रित नहीं होता। उसकी

---

१. Vivian De Sola Pinto, Crisis in English Poetry. (1880-1940).

संयोजक अबौद्धिक प्रवृत्तियां होती हैं। ऐसे ही ऊपर से अनर्गल प्रतीत होने वाले स्वप्न रूप की अवतारणा के उद्देश्य से जेम्स ज्वाइस ने अपने "युलिसिस" उपन्यास के पूरे अध्याय को विराम चिह्न विहीन रक्खा है। उसका पूर्ण तात्पर्य संभवतः उस विधि से ही स्पष्ट हो सकता है, जिससे एक मनोविज्ञान वेत्ता स्वप्न के मूल तात्पर्य से परिचित होता है।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास से सामान्यतः ऐसे उपन्यासों का अर्थ लिया जाता है जो आधुनिक मनोविज्ञान और विशेषतः मनोविश्लेषण का स्पष्ट प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। पश्चिम में जिस प्रकार मोपासाँ, दास्तोएव्हसकी और चेखव से सूत्र प्राप्त करते हुए मनोवैज्ञानिक उपन्यास की व्याख्या अग्रसर होती है वैसा करने के लिए हिन्दी में उस प्रकार की पृष्ठभूमि प्राप्त नहीं है। हमारे यहाँ मनोवैज्ञानिक उपन्यास का नाम लेते ही फ्रायड, एडलर और युंग के नाम सामने आ जाते हैं। कभी-कभी व्याख्या के लिए इन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांत पर्याप्त समझ लिये जाते हैं। साहित्य समीक्षा में मनोविज्ञान का यह एकाधिकार उचित नहीं; किन्तु हमारे उपन्यासकार इस अनौचित्य के लिए कुछ न कुछ अवसर अवश्य ही देते हैं। यह बात जोशी जी के साथ विशेषतः घटित होती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास की जिन मौलिक विशेषताओं का परिचय हम ऊपर प्राप्त कर आए हैं उन्हें देखते हुए जोशी जी के उपन्यासों को एक विलक्षण ही अर्थ में मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसमें यदि मानसिक वस्तु है भी तो वह लेखक के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में वर्णित है तथा एक स्थूल कथानक उसे गौण बनाकर स्वयं प्रधानता ग्रहण कर लेता है। उनकी मनोवैज्ञानिकता मुख्यतः दो तथ्यों पर आश्रित है। प्रथम स्वयं लेखक का दावा है आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए जोशी जी कहते हैं कि उसके द्वारा उद्घटित मानस यथार्थ ही वास्तविक

यथार्थवाद का आधार है।[1] दूसरा तथ्य यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान की प्रतिपत्तियाँ और खोजों का जोशी जी ने सामग्री के रूप में और एक सीमा तक चरित्र चित्रण में विपुल उपयोग किया है। उनकी शैली कथानक का आश्रय लेकर चलने वाले पुराने उपन्यासकारों से भिन्न नहीं है। केवल सामग्री की नवीनता से एक नए प्रकार के उपन्यास का आविर्भाव मान लेना अनेक समस्याएं उत्पन्न कर देगा। नए दृष्टिकोण और नई वस्तु के साथ जब उनके उपयुक्त नई शैली का भी योग होता है तभी कला के क्षेत्र में एक नई कोटि का अविर्भाव मानना चाहिए। अतः जोशी जी के उपन्यास एक बहुत स्थूल दृष्टि से ही मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। नवीनता उनमें भरपूर है; किन्तु कलात्मक मौलिकता नहीं। मनोविज्ञान की वस्तु सीधे ग्रहण करने के कारण उनकी कृतियों की व्याख्या में अपने आप फ्रायड, एडलर, युंग इत्यादि आ जाते हैं।[2] इस प्रकार के प्रभाव से युक्त कृतियों की संगति साहित्य की सरणि के साथ बैठालना भी कठिन प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ मूल अवस्था साहित्यिक न होकर एक विशेष विज्ञान पर जोर देती है। जोशी जी की कृतियों का विश्लेषण करते हुए इन तथ्यों पर ध्यान रखना भ्रान्ति से बचने में आवश्यक सहायता देगा।

---

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, पृ. १७०, १७१, "प्रेत और छाया"

२. श्री शिवनारायण चतुर्वेदी, आलोचना अंक १८.

४

हिन्दी उपन्यास का विकास

भारत कथा-साहित्य में विश्व का पथ-प्रदर्शक रहा है, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद नहीं है। कथा-साहित्य के प्रारम्भिक बीज वेदों में 'शुनःशेप की कथा', 'सरमा-संवाद' आदि में मिलते हैं। इसी का विकास हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल तक अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आधुनिक काल के उपन्यास साहित्य और उससे पूर्व के साहित्य में केवल शैली का अन्तर ही परिलक्षित होता है। स्पष्ट रूप में हिन्दी उपन्यास का अविर्भाव गद्य साहित्य के साथ माना जाता है। सन् १८०० के लगभग चार विद्वानों (क्रमशः सदासुख लाल, सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र) ने अपनी कथा साहित्य की कृतियों को प्रस्तुत किया। इन कृतियों में प्रमुखतः लाला लल्लू लाल की "सिंहासन बत्तीसी" (१८०१) 'बैताल पचीसी' (१८०१) "माधवानल काम कंदला", श्री सदल मिश्र की "नासिकेतोपाख्यान" (१८०३) तथा सैयद इंशा अल्ला खाँ रचित "रानी केतकी की कहानी" महत्वपूर्ण हैं। प्रथम उपन्यास के सम्बन्ध में मतभेदों की खोज करना प्रस्तुत निबंध का विषय नहीं है। कतिपय विद्वान "रानी केतकी की कहानी" को प्रथम उपन्यास मानते हैं परन्तु वह केवल प्रेम-कथा है। वास्तव में "हिन्दी का पहला उपन्यास "परीक्षा गुरु" सन् १८८२ के लगभग लिखा गया था।[1] श्री श्रीनिवास दास जी का यह उपन्यास इस दृष्टि से

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ. १३५.

अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें उपन्यास के सभी तत्वों की नियोजना है। इस समय के उपन्यासकारों में श्री देवकीनन्दन खत्री, गोपाल राम गहमरी, कार्तिक प्रसाद खत्री, श्री किशोरी लाल गोस्वामी प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में कला विकसित रूप से पाठकों के समक्ष नहीं आ पाई। पं० बालकृष्ण भट्ट सदृश व्यक्ति तो उपदेशात्मकता का विधान उपन्यास के अन्त तक नहीं छोड़ते थे।

प्रेमचन्द जी के पूर्व हिन्दी उपन्यासों में आरम्भिक जासूसी, तिलस्मी, कल्पना-प्रधान धारा, जिसमें कथा का सूत्र विस्मय प्रधान है, से पूर्ण है। इन उपन्यासों में ऐसी बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है जिसे बुद्धि ग्राह्य न करती। पुरुष और नारी के रोमाँटिक प्रेम के साथ पाठकों के मनोरंजन का प्राधान्य इसमें प्राप्त होता है। इन उपन्यासों की वस्तु प्राचीन सामंतीय समाज की शृंगारिक भावना के साथ वीरत्व की भावना को लेकर सामंतीय वातावरण को उपस्थित करती है। शिल्प की दृष्टि से आकस्मिकता, अमानवीय एवं अनहोनी विधियों का प्रयोग उपन्यासकारों ने किया है। किशोरीदास गोस्वामी ने तिलस्मी और जासूसी अंशों को त्याग कर केवल प्रेमप्रधान उपन्यास लिखे। सामन्तीय वातावरण के उपन्यासों की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासों को इन्होंने विशेष महत्व दिया। किशोरीलाल गोस्वामी की विशेषता शृंगारिक चित्रणों में है। सामाजिक प्रश्नों पर जैसे विधवा-विवाह आदि पर विरल चित्र मिलते हैं। प्रेम की चर्चा की अधिकता यहाँ सामाजिक पक्ष को उभरने नहीं देती है। ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास बंगला के भावात्मक उपन्यासों की हिन्दी में अवतारणा ही हैं। ये गद्यकाव्य और उपन्यास के बीच की सृष्टि हैं। इनमें चित्रण आदर्श-वादी, कल्पनावादी होने के कारण कथानक का सूत्र क्षीण रहता है। कथानक के सूत्र की विरलता के कारण ये उपन्यास गद्य-काव्य के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। अधिकतर इन उपन्यासों में नायिका की स्थिति

का चित्रण रहता है, अतएव ये भावात्मक भी कहे जा सकते हैं।

दूसरा युग अनुवादों का है। शरतचन्द्र, रवीन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त आदि के उपन्यासों के हिन्दी में अनुवाद भी मिलते हैं। विदेशी उपन्यासों के अनुवादों में "टाम काका की कुटिया" जैसे उपन्यास हिन्दी साहित्य में आए। इन अनुवादों के द्वारा हिन्दी पाठकों में नई चेतना का अविर्भाव हुआ। यह चेतना प्रधानतः साहित्यिक और सामाजिक ही रही। इस समय पाठकों से अपार विश्वास की पद्धति विलग हो गई जो पूर्व में चली आ रही थी। प्रेम की बीथियों में पाठकों का भटकना, शैली के चमत्कारों का विशेष गुण आदि समाप्त कर दिए गए। इनके स्थान में आधुनिक युग की समस्याएं सामाजिक, राजनीतिक आदि देशकाल और आदर्शों का नवीन भावुकतापूर्ण चित्र उपन्यासों में प्रारम्भ हुआ। प्रेम सम्बन्धी उपन्यासों में नायक नायिका इत्यादि उच्च कुलों के व्यक्ति होते थे। नये उपन्यासों में मध्यवर्ग के पात्र आए। ये समसामयिक पढ़े लिखे वर्ग के प्रतिनिधि होते थे। प्रत्येक उपन्यास किसी न किसी सामाजिक वैषम्य को लेकर चलता है इससे करुण रस की प्रधानता का आभास मिलता है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में पूर्व पश्चिम की संस्कृतियों के सम्मेलन-उद्योग एवं उनका प्रसार मिलता है। भारतीय रूढ़ियों, राष्ट्रीय रूढ़ियों को दूर कर विश्व समाज की कल्पना में बौद्धिक उन्मेष मिलता है जिस से इनके उपन्यास भावुकता की सामान्य सीमा से ऊपर उठ गए हैं। शरतचन्द्र के उपन्यासों में यद्यपि मूल में समस्या रहती है लेकिन पात्रों की भावुकता इतनी प्रमुख होती है कि समस्या गौण हो जाती है। यही इनके उपन्यासों में बौद्धिक तत्व की कमी ला देती है। यह कार्य १९००-१९१५ तक चलता। "रामचन्द्र वर्मा" द्वारा अनूदित "छत्रसाल" नामक मराठी उपन्यास में राष्ट्रीय तत्व की प्रधानता है। "टाम काका की कुटिया" भी आदर्श प्रधान उपन्यास है, जिसमें पश्चिमी भौतिक विकास

के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इस तरह हिन्दी के नये युग के आगमन के संकेत मिलते हैं। उपन्यास कला की दृष्टि से हमारी समृद्ध चेतना के बौद्धिक जीवन के उपयुक्त बनता जा रहा है। "प्रेमा" लघु उपन्यास से प्रेमचन्द का उपन्यासकार हमारे समक्ष आता है।.....समाज सुधारक के रूप में उन्होंने हिन्दी को अपनाया और आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद की छत्रछाया में एक ऐसे कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया जिस की देश, काल, समाज, राष्ट्र और भारतीय मानव को उस समय आवश्यकता थी।"[१] प्रेमचन्द जी के उपन्यास आरम्भ से ही सामाजिक प्रश्नों को लेकर चले। उनके पात्र वर्गीय प्रतिनिधि के रूप में (जैसे किसान, मजदूर, पूंजीपति) उपन्यासों में आए पर इनके उपन्यास बंगला के उपन्यासों के संस्कारों के अनुरूप न थे; इसलिए प्रेमचन्द को हिन्दी के उपन्यासों में नई परम्परा स्थापित करने का श्रेय है।

संक्षेप में, प्रेमचन्द के उपन्यास ठेठ सामाजिक उपन्यास हैं। सामाजिक भूमि पर चरित्रों का समाधान मिलता है। कतिपय विद्वान प्रेमचन्द के उपन्यासों को समस्यामूलक उपन्यास मानते हैं।[२] परन्तु यथार्थ में, वे "टाइप नाविल"[३] के जन्मदाता हैं। जीवन से निरपेक्ष सत्ता का कोई भी प्रशस्त चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में नहीं मिलता है। प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों में प्रमुखतः प्रसाद जी और वृन्दावन लाल वर्मा आते हैं। प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक प्रश्न उठाये हैं। शैली भी प्रेमचन्द जी की तरह वर्गीय चित्रण की नहीं है। वे स्वच्छदतावादी उपन्यासकार की भूमिका पर कार्य करते हैं। वे पात्रों, चरित्रों और घटनाओं का विस्मयपूर्ण एवं आकर्षक रोमेन्टिक चित्र उपस्थित करते हैं। "कंकाल" में प्राचीन गूजरों के समान के

१. श्री यज्ञदत्त शर्मा, हिन्दी के उपन्यासकार, पृ. २७.
२. डा० महेन्द्र भटनागर, समस्यामूलक उपन्यास, (भूमिका)
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, "व्याख्यान" के कतिपय चरण.

चित्रण हैं। सामाजिक दृष्टि से मानी जाने वाली वंश परम्परा की पवित्रता को सीधी चोटें (Rude shocks) दी गई हैं। कुल मिलाकर उनमें रोमेन्टिक उपन्यासकार का ही ढंग मिलता है। प्रेमचन्द से भिन्नता के साथ ही समानता भी विशेष दृष्टव्य है। दोनों उपन्यासकार सामाजिक हैं। शिल्प की दृष्टि से दोनों वर्णनात्मक उपन्यासकार हैं। कथानक की एक सूत्रता भी प्रायः दोनों में मिलती है। परन्तु प्रेमचन्द में रोचक तत्व की कमी है, जो प्रसाद जी के उपन्यासों में विशेष रूप से मिलता है। प्रसाद जी आश्चर्यजनक स्थितियों के निर्माण में विशेष रुचि लेते हैं जबकि प्रेमचन्द नहीं।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास अतीत के गौरवमय जीवन का चित्रण करते हैं। प्रसाद के नाटकों में सांस्कृतिक उन्मेष का जो रोल है, वही वृन्दावनलाल जी अपने उपन्यासों के माध्यम से करते हैं। वे वीरत्व और प्रेम का रोमेन्टिक (आइडियल) आदर्श अपनाते हैं। इन्होंने लोक जीवन, वन्य-जीवन को अपने उपन्यासों में पर्याप्त स्थान दिया है, जिससे उपन्यास एक तरह से प्रसाद के उपन्यासों के समीप अधिक प्रतीत होते हैं। ये सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों में प्रेमचन्द के समीप हैं। इस तरह वृन्दावनलाल वर्मा अंशतः प्रसाद के निकट और अंशतः प्रेमचन्द के निकट आते हैं।

उपन्यास साहित्य में इस युग के पश्चात् दो धाराएं मुख्यतः मिलती हैं। एक धारा में यशपाल, नागार्जुन, राहुल आदि आते हैं। इनमें कलापक्ष की कमी है। औपन्यासिक कला के सूत्र विशेषकर राहुल जी में सम्यक कथानक, उचित रूप से चरित्रों की सृष्टि, उपन्यास की व्यापार योजना पर ध्यान नहीं मिलता है। राहुल जी मुख्यतः अतीत के जीवन का कुरुप चित्र प्रदर्शित करते हैं। वे अतीत के जीवन का पर्दाफाश उसी तीव्रता से करते हैं जिस तीव्रता से वृन्दावनलाल वर्मा और प्रसाद जी अपने उपन्यासों और नाटकों में प्राचीन जीवन के

सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। राहुल जी में प्रेमचन्द परम्परा का विकास नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका संपूर्ण दृष्टिकोण नकारात्मक है।

यशपाल जी के उपन्यास का आरम्भ शरतचन्द्र की हँसी उड़ाने में हुआ। शरत् के "पथेर-दाबी" में क्रांति जीवन का वर्णन है। यह चित्र बहुत भावात्मक है। इसका चित्र पात्र आदि की दृष्टि से बहुत आकर्षक है। इसी के दूसरे पक्ष को लेकर "दादा कामरेड" लिखा गया, जिसमें उन्होंने क्रांतिकारी नायक के मानवीय गुणों की चर्चा न करके कठोर जीवन की चर्चा की है। यशपाल जी का कार्य स्वच्छंदतावादी उपन्यासों के विरोध में यथार्थवादी है। वे यथार्थवाद को अपनाते हुए मनुष्य के चारित्रिक (नैतिक आदि) गुणों को नगण्य मानते हैं। आर्थिक संघर्ष ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण करता है। इस तरह के विचारों से इनके उपन्यास प्रचारात्मक हो जाते हैं, उनमें मानवीय पक्ष क्षीण हो जाता है। शिल्प के संबंध में यशपाल जी का कथात्मकता से छुटकारा नहीं हुआ। उनके उपन्यास वर्णनात्मक हैं। ऐतिहासिक उपन्यास भी इन्होंने लिखे हैं। नागार्जुन में व्यंग्य का पुट अवश्य है। इनमें रुपातिक विशेषताओं (Local colour) का चित्रण मिलता है, जिससे उपन्यासों में नवीनता है। यथार्थवादी उपन्यासों की विशेषता है कि वे सामाजिक जीवन का रचनात्मक चित्र सामने नहीं रखते, व्यंग्य विद्रूप चित्र देते हैं। नकारात्मक चित्र के कारण औपन्यासिक का अधूरा चित्र ही स्पष्ट हो पाता है। आदर्शवाद में पात्र समस्त गुणों से पूर्ण होते हैं। यथार्थ-वाद में आसुरी गुण, नैतिक बलहीन होने के कारण पाठकों को हैरत में डाल देते हैं। इन्होंने स्वल्प मात्रा में शिल्प संबंधी प्रयोग किए हैं। उपन्यास के गुरुत्व की रचना और नाटकीय शैली को अपनाया है।

दूसरी धारा में, उपन्यास को विस्तार की अपेक्षा गहनता में विशेष रूप से लाया गया। वर्णनात्मकता के स्थान पर संकेतों द्वारा अर्थ व्यंजित करने का विधान है। पूर्व में उपन्यास राष्ट्रीय पैमाने पर

निर्मित होता था, पर अब पारिवारिकता की भी योजना की गई। विशालता से गहराई की ओर प्रस्थान जैनेन्द्र के उपन्यासों में मिलता है। संकीर्ण दायरे में किसी सामाजिक प्रश्न को उठाना सरल प्रतीत नहीं होता इसलिए जैनेन्द्र जी ने एक दार्शनिक उपन्यासों की परम्परा चलाने का विचार किया। वह गांधीवादी आदर्शों को उपन्यास के माध्यम से व्यक्त करते हैं। अहिंसा और अन्य उदात्त आदर्शों की सृष्टि के साथ मनोविज्ञान का भी पुट उनमें मिलता है। अहिंसाव्रती की मानसिक दशा क्या है ? उसकी विभिन्न परिस्थितियों में से क्या प्रतिक्रिया होगी ? यह प्रश्न दार्शनिक उपन्यासों का मूल है। यहीं से मनोवैज्ञानिक पहलू चालू होता है। सामान्य व्यवहार की अपेक्षा विशेष व्यवहार की भूमिका का कार्य जैनेन्द्र जी करते हैं। परंतु साथ ही जैनेन्द्र जी में कुछ अपनी दुर्बलताएं हैं। वह नारी को समाज के खुले जीवन में ला खड़ा करते हैं और उसकी प्रतिक्रियाएं, विभिन्न पुरुषों, विवशताओं के बीच में देखते हैं। वे अन्ततोगत्वा नग्न चित्रणों तक उतर आते हैं। इसके द्वारा आदर्श की अभिव्यंजना का ऐलान करना उनकी नारी संबंधी भावना (complex) का परिणाम है। नारी को इस प्रकार की प्रमुखता देकर, पुरुष को उन्होंने निष्क्रिय नारी से चकचौंधियाया हुआ प्रदर्शित करने की पद्धति चलाई। "मृणाल" की प्रखरता से उसका भतीजा जजी से स्तीफा दे देता है। इसके पश्चात् सुखदा और विवर्त में पुरुष नारी का निष्क्रिय पार्टनर "द्रष्टा" दिखता है। वह कार्य में भाग नहीं लेता है। केवल नारी के चरित्र को प्रकाश में लाने का विरोधी तत्व (contrast) बनता है। इस प्रकार जैनेन्द्र जी के उपन्यास दार्शनिक पृष्ठभूमि पर न जाकर मनोवैज्ञानिक भूमि पर ही समाप्त हो गए। इनके उपन्यासों को संकल्प की दृष्टि से दार्शनिक कहा जा सकता है परंतु उनके व्यक्तित्व के कारण वे मनोवैज्ञानिक उपन्यास बन गए हैं। कतिपय व्यक्ति इनकी तुलना रवीन्द्र और शरत

से करते हैं। परंतु रवीन्द्र के उपन्यासों में इस प्रकार के विक्षेप न पुरुष पात्रों में हैं न नारी पात्रों में। इस प्रकार के विरोधी तत्वों का समावेश भी नहीं है। उनके उपन्यासों में स्वस्थ चरित्रों की अधिकता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में (Subnormal) उपसामान्य पुरुष पात्र और (abnormal) असामान्य नारी पात्रों की सृष्टि का प्रयोग है। जैनेन्द्र इस अर्थ में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहे जाते हैं कि वे वास्तव में दार्शनिक समस्या का विज्ञापन करते हैं। इनके द्वन्द्व ज्ञात रूप में कुछ हैं और उनसे आज्ञात रूप में दूसरे प्रकार की रचना हो जाती है। यद्यपि ये आदर्शवाद का नाम बार-बार लेते हैं, भौतिक विचार धारा के विरोध में, यथार्थवाद का खंडन करते हैं, परंतु चरित्र इनके मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर काम करते प्रतीत होते हैं।

अज्ञेय जीवनी वाले शिल्प को अपनाते हैं इसलिए मनोविज्ञान के तथ्यों को उपस्थित करने का इन्हें अधिक अवसर मिलता है। वे पूरी कथा को न लेकर उन अंशों को लेते हैं जिनमें किसी प्रकार से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का क्रम बना रहता है। उनके उपन्यासों में एक सूत्रता है परन्तु वह कथात्मक न होकर मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आश्रित हैं। वह आलोक दर्शन महत् चरित्र को देना चाहते हैं। पर यह आलोक जैनेन्द्र की तरह दार्शनिक भूमिका पर पहुंचने वाला नहीं है, वह केवल शिल्प या शैली मात्र है। यहां भी वे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की दृष्टि से स्वतंत्र हैं। उनके सभी चित्र एक तरह चित्रों की गंगा (Galaxy) के रूप में रखे गए हैं। कथा पक्ष गौण और उसमें चित्रण विशेष अवसरों का ही प्रधान रहता है।

अज्ञेय जी अभिजात्यवाद पर विश्वास करते हैं। वह सामाजिक, प्रश्नों, गतिविधियों आदि से तटस्थ हैं, व्यक्तिगत उत्कर्ष पर विशेष बल देते हैं। बाह्य कार्य-कलाप, सामाजिक जीवन के कोई मुख्य अंग नहीं हैं। इस अभिजात्यवादी धारणा के कारण उनके उपन्यास मानसिक

स्वतंत्रता के हामी हैं। "नदी के द्वीप" में दो पात्र हैं जिनमें एक समाजवादी विचारों का प्रतिनिधि है और दूसरा नहीं। दूसरा पात्र समाजवादी विचारों को निम्न श्रेणी की बौद्धिकता और सांस्कृतिक चेतना आदि के द्वारा दिखाता है। इस प्रकार अज्ञेय जी मानसिक तथ्य, "स्वतंत्रता," राष्ट्रीय जीवन को सर्वोपरि तथ्य मानकर उपन्यासों के क्षेत्र में आते हैं। "नदी के द्वीप" में ऐसे विश्राम स्थान हैं जहां एकान्तिक रूप में जीवन और संस्कृति की साधना की जा सकती है, यह दृष्टिकोण यद्यपि असामयिक है, व्यक्तिवादी है; परंतु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को (Scope) भूमि मिलती है। यहां शृंगारिक तथ्यों का योग भी करती है। यह प्रतीत होता है कि ऐकान्तिकता केवल सेक्स की भूमिका पर आश्रित है। ये वृत्तियाँ ह्रासोन्मुख हैं। यद्यपि अज्ञेय जी इस विषय में वही दृष्टिकोण नहीं रखते।

शृंगारिक वर्णनों का योग इन्हें दुःखवाद (Sadism) की भूमि पर ले जाता हैं, यह उनके उपन्यासों का अस्वस्थ पहलू है। प्रधान चरित्र की आत्म श्रेष्ठता, पात्र के आत्म भ्रम की सृष्टि करती है। इनके उपन्यास कुल मिलाकर मनोवैज्ञानिक होते हुए भी मानसिक विकृतियों के चित्रणों से पूर्ण हैं। तटस्थ दृष्टि के कारण इनके उपन्यास आत्मनिष्ठ "स्वनिष्ठ" रचनाएं बन जाती हैं। शृंगारिकता और अहंभावना का आधिक्य के कारण एक नया कार्य दिखाई पड़ता है।

तीसरे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी हैं जिनके उपन्यासों की विस्तृत चर्चा हम प्रस्तुत प्रबन्ध में कर रहे हैं, इनका विवेचन आगामी परिच्छेदों में किया जायगा।

कुछ लेखकों का दल जैसे उग्र जी, ऋषभचरण जैन किसी हद तक चतुरसेन शास्त्री ने भी अपने उपन्यासों में समाज के गलित अंगों का चित्रण किया है। समाज की चारित्रिक विभीषिकाओं का चित्रण ही इनमें मुख्य है। ये दो ढंग के हैं: प्रथम लेखक की सहानुभूति, सामाजिक

और मनोवैज्ञानिक उद्भावनाएं, ऐसे पात्रों के प्रति पूरी तरह से उद्भासित होती हैं, यद्यपि इसमें यथार्थवादी चित्रण है। ये प्रगतिशील लेखक कहे जायेंगे क्योंकि इनकी प्रतिक्रिया सुधारात्मक होती है।

दूसरे लेखक उन्हीं में रमने लगते हैं। वासनापूर्ण चित्र दुराचरण की परिस्थितियों में विशेष आकर्षण कला का अभिशाप बन जाता है। प्रश्न उठता है: क्या यह यथार्थ नहीं है? वास्तविकता को चित्रित करके लेखक पूर्ण काम नहीं हो सकते। केवल रुग्णताओं को कुरेदकर विकारों के देखने के क्रम को कला की स्वाभाविकता नहीं मिलती। ये लेखक इस दूसरी मनोभावना को लेकर चलते हैं। इनमें आन्तरिक विकृति दिखाई पड़ती है। चारित्रिक एवं समाज के वैषम्यों के प्रति कुरूप दृश्यों के प्रति आवर्जना का भाव भी इनमें होता है। सहानुभूति से पूर्ण होकर लेखक अपराधियों को कोसता है, परिणामतः यह धारा संदेशप्रद उपन्यासों की नहीं है इसमें वह यथातथ्यवाद रहता है जिसमें हिन्दी उपन्यास का कमजोर पक्ष मिलता है।

उग्र जी ने नई शैली का निर्माण किया है। शिल्प में चमत्कार, चुहुल की योजना के कारण पात्र (clear perspective) स्पष्ट परिप्रेक्ष—में पाठकों के सामने आते हैं, प्रेमचन्द के समान नहीं। पर यथातथ्य कवियों का साहित्य किसी उच्च भूमि पर नहीं पहुंचता है।

अश्क जी के उपन्यासों में विशेषकर "गिरती दीवारें" में एक नया दृष्टिकोण है। सामाजिक जीवन के ह्रासोन्मुख तत्वों को ये पैनीदृष्टि से देखते हैं। उनका यथातथ्य या वस्तुमुखी चित्रण करते हैं। इनमें अनेक पात्रों के निर्माण के साथ, विविधता सहित उपन्यास को आगे बढ़ाने की क्षमता है। बौद्धिक जागरूकता, समाज की विभिन्न गति-विधियों का आकलन, साथ की शिल्प और बौद्धिक पक्ष दोनों का विकास औपन्यासिक की कला का विकास प्रतीत होता है। इनमें चरित्र निर्माण की प्रतिभा उत्कृष्ट रूप से पाई जाती है। उनमें उपचारात्मक,

व्यंग्यात्मक तथ्य नहीं हैं। संदेश नहीं है, अतएव वे कला के लिए कला, यथार्थ के लिए यथार्थ की भूमि पर ही रह जाते हैं। समाजवादी उपन्यासों और इनके उपन्यासों में विशेष अन्तर है। समाजवादी व्यंग्य का आश्रय लेकर समाज की विषमताओं का नग्न चित्र उपस्थित करते हैं। अश्क जी सब कुछ पाठक पर छोड़ देते हैं, पाठक जो कुछ समझना चाहे, समझे। यथा-तथ्यवाद कला की दृष्टि से सूक्ष्मतर पद्धति है। उसकी कमजोरी पाठकों से बहुत अधिक की संभावना रखता है। उनके उपन्यासों में जहां पर हम नायक से विद्रोह की अपेक्षा रखते हैं वहीं पर अश्क जी अपने उपन्यासों को समाप्त कर देते हैं अथवा (Anticlimax) विपरीत चरम सीमा में उपन्यासों की सृष्टि विनोद और हल्के वातावरण से करते हैं। अर्थ यह हुआ कि अश्क जी न चरित्र चित्रण में विद्रोह या क्रान्ति की भूमि पर आते हैं और न उसका उचित समाधान ही देते हैं।

"कुल मिलाकर नए उपन्यास भारतीय जीवन क्षेत्र की बहुत बड़ी विविधताओं को लेकर चल रहे हैं। यह शुभ लक्षण है। इससे प्रतिभा और अनुभव की प्रचुरता का प्रमाण मिलता है परन्तु इन दोनों तथ्यों के साथ तीसरा तथ्य व्यक्तित्व की सुव्यवस्थित साधना और क्षमता का है। स्वतन्त्रता संघर्ष के युग में इस पिछली वस्तु के लिए बहुत अनुकूल वातावरण था।[1] इसी कारण विशेष प्रतिभाओं के दर्शन साहित्य में हुए।

इलाचन्द्र जी के समसामयिक उपन्यास की विविध दृष्टि विकास की संक्षिप्त रूपरेखा दे दी है। उनके परवर्ती उपन्यासों पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम केवल उस पृष्टभूमि का संकेत कर रहे थे जिसमें हमारे विवेच्य श्री इलाचन्द्र जी का आगमन हुआ। इसी कारण हमने नवीनतम औपन्यासिक प्रवृत्तियों का विवरण देना अनावश्यक समझा।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य: नये प्रश्न, पृ० १८२.

५

इलाचन्द्र जोशी के सिद्धान्त

इलाचन्द्र जोशी एक उपन्यासकार के रूप में विज्ञात हैं, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में पहला कदम उन्होंने कवि के रूप में रक्खा था। समीक्षक के रूप में भी उन्होंने बहुत से लेख लिखे हैं, जो "साहित्य सर्जना", "विवेचना", "विश्लेषण" और "देखा-परखा" नामक पुस्तकों में संकलित हैं। जोशी जी का जो आलोचक रूप इनमें दिखाई देता है, वह हिन्दी के अन्य समीक्षकों से बहुत भिन्न है। एक बहुत विशाल क्षेत्र का स्पर्श अपने ढंग से उन्होंने किया है और उसके विवेचन में उनकी लेखनी की गति बहुत तीव्र रही है। उनमें कहीं संशय नहीं दिखाई देता और सभी बातों में एक नया निर्णय उपस्थित करने की उनमें प्रबल क्षमता है। ये निर्णय कैसे हैं, यह एक भिन्न बात है। अन्य उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखकर तर्जनी उठा सकते हैं, किन्तु स्वयं जोशी जी का दृष्टिकोण निर्विकल्प और अदम्य है।

जोशी जी के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में स्वाभाविक रूप से इस प्रबन्ध की भी कुछ रूचि है। कोई साहित्यकार जब साहित्य और उसके प्रति अपने विशेष दृष्टिकोण का आख्यान करता है, तब उसके सृजन शीलन कृतित्व को समझने में उसके इन विचारों से भी सहायता मिलती है। उपन्यास के विषय में भी जोशी जी ने विशद रूप से लिखा है, उसके प्रति अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया है। इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में हम साहित्य

और उपन्यास के विषय में जोशी जी की धारणाओं का निदर्शन करेंगे।

साहित्य की प्रेरणा :

जोशी जी के अनुसार साहित्य मनुष्य की विकसित अवस्था का प्रतीक है। आदिम निवासियों की अपेक्षा अल्प सभ्य मनुष्यों का साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। आदिम निवासियों का साहित्य केवल संकेतमयी शैली को महत्ता देता है। वास्तव में सभ्य संसार में ही साहित्य अपने सही अर्थों में प्रस्तुत हुआ है और जिसे जोशी जी एक आश्चर्यजनक घटना मानते हैं : "सभ्य संसार के इतिहास में साहित्य की अभिव्यक्ति एक आश्चर्यजनक घटना है। इससे यह पता चलता है कि मानव हृदय प्राथमिक अवस्था से इतनी दूर तक विकसित होता चला गया है।" "प्राथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी, अज्ञात में एक प्रकार की निगूढ़ वेदना, अपने अन्तस्तल के सुदूर किसी निभृत प्रांत में, अवश्य ही अनुभव करता था।"[१] इसका परिपुष्ट प्रमाण आफ्रीका और आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों में प्रत्यक्ष है। बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य-समाज के भीतर साहित्य, संगीत, चित्र, शिल्प, भास्कर्य आदि उन्नत कलाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। अदम्य आत्मप्रकाश की प्रवृत्ति के कारण विरह का भाव स्फुरित होता है। कला का मूल यही विश्वव्यापी विरह भाव है। साहित्य भी एक कला है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति भी इसी मूल भाव में हुई है। विरह भावना को अधिक महत्ता देते हुए जोशी जी यह सूचित करते हैं कि आनन्द की सृष्टि के लिए साहित्य में विरह भाव का होना अत्यन्त अपरिहार्य है। रामायण, महाभारत आदि काव्यों से लेकर आधुनिक युग तक के महाकाव्यों में इस भाव का प्राधान्य है। पूर्व के इतिहास

१. इलाचन्द्र जोशी, साहित्य सर्जना, पृ० ७, ८.

ही केवल इस भाव से ओत-प्रोत नहीं हैं, पश्चिम के इलियड, ओडीसी आदि ग्रंथों में इस भाव का उचित समाहार है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कवि ने इस अज्ञात विरह को प्रस्फुटित करने के लिये ही दुष्यंत को शापभ्रष्ट करवाया है। शापभ्रष्ट होने के कारण ही दुष्यंत चिरकालिक विरह का तत्व समझ पाते हैं। इन सबके मूल में वृहदारण्यकोपनिषद् का कथित वाक्य अंश है : "उस अनादि अव्यक्त पुरुष को अपने तईं व्यक्त करने की इच्छा हुई, क्योंकि एकत्व में किसी को आनन्द नहीं मिलता। दो होने में ही आनन्द", द्वैधभाव से ही आनन्द का रस मथित होता है; इसलिए उसने अपने को पुरुष और नारी में विभक्त किया। नारी पुरुष के रूप में ईश्वर इस विरह के भाव को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है : "संसार के रात दिन के सुख-दुख, आशा-निराशा, स्नेह-प्रेम, कलह-द्वन्द के भीतर भी इस विरह का खेल चलता है। कवि इन प्रात्यहिक तुच्छ घटनाओं के प्रवाह में बिजली की झलक के समान विरह का आभास क्षण-क्षण भर में पाता रहता है और उसे खण्ड-कविता, नाटक, उपन्यास तथा छोटी कहानियों के रूप में व्यक्त करता है।"[१] परिपुष्ट होने के लिए साहित्य में अन्य सामयिक तत्वों का प्रवेश भी संगत है। विभिन्न कवियों ने वेदांत दर्शन और सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्यों का उपयोग भी साहित्य में उसी प्रकार किया है जिस प्रकार दैनन्दिन सुख-दुख की घटनाओं का।

विरह के परिपार्श्व में सर्वत्र प्रेमभाव दृष्टिगोचर होता है। करुणा और विरह प्रेम के ही परिवर्तित रूप हैं : "आदि कवि के अंतर से कविता का जो उत्स फूट पड़ा उसके मूल में वह करुणा थी जो प्रेमरत चक्रवाक मिथुन में से एक की व्याध द्वारा हत्या हो जाने के कारण उमड़ उठी थी।"[२]

---

१. इलाचन्द्र जोशी, साहित्य सर्जना, पृ. ८.

२. इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण, पृ० १३७. "साहित्य में प्रेम तत्व."

साहित्य स्वरूप का मूलगुण : "अस्पष्टता"

जोशी जी के अनुसार "श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है। इस वस्तु-जगत की स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए ही कविता की सृष्टि हुई है, अन्यथा उसका कोई उद्देश्य नहीं रह जाता। यदि स्पष्ट बात कहनी है तो कविता की आवश्यकता ही क्या है ? साधारण गद्य की सरल भाषा में वह और भी अच्छी तरह से कही जा सकती है।"[१] कवि सृजन में अधिकांश काल्पनिक उपादानों का उपयोग करता है। प्रकृति के नग्न रूप का अंकन जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला होगा।[२] प्रकृति वस्तु जगत पर मनोमोहकता का पर्दा डालकर, उसे काव्य जगत के रूप में प्रस्तुत करती है।

'अस्पष्टता' सौन्दर्य की साधक है। कवि आवरणहीन, कुत्सित एवं कुंठित भावनाओं को उनके वास्तविक रूप में प्रकट न करके कविता के माध्यम से उन्हें सुन्दर सजा कर प्रस्तुत करता है : "फ्रायड का कथन है कि स्वप्न कैसा ही विकृत ओर अर्थहीन क्यों न जान पड़े, उसकी प्रत्येक असम्बद्ध असंगत घटना विशेष अर्थ रखती है, पर सांकेतिक रूप में। अर्थात् प्रत्येक स्वप्न हमारी निगूढ़ आकांक्षाओं का रूपक है।"[३] उसी प्रकार एक विशेष श्रेणी की कविता ऐसी होती है जो कवियों की अन्तश्चेतना में जागरित होने वाली अज्ञात आकांक्षाओं को स्वप्न के आकार में वेश बदलकर सांकेतिक रूप में अपने को व्यक्त करती है। कवि की अन्तरात्मा नहीं चाहती कि वह अपनी अज्ञात आकांक्षाओं को नग्न रूप में लज्जा रहित अवस्था में व्यंजित करे, इसीलिए वह

---

१. इलाचन्द्र जोशी, साहित्य सर्जना, पृ० २१, २२ "काव्य में स्पष्टता तथा रूपक रस."
२. "वही", पृ० २३.
३. "वही", पृ० २६.

नाना रंगीन आवरणों, नाना रूपकों का सृजन करके इन्द्रजालमय बाने से उन्हें ढक कर हमारे सामने रखता है।

साहित्य और सांस्कृति :

"साहित्य और संस्कृति समानान्तर मार्ग पर चलते हैं", कहकर जोशी जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साहित्य ही संस्कृति है। संस्कृति शब्द की और व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है : "संस्कृति का पर्यायवाची शब्द "कल्चर" है। "कल्चर" शब्द "कृषि" और "कर्षण" का पर्यायी है। सभी जानते हैं कि अच्छी कृषि के लिए सारवान खाद की आवश्यकता होती है और खाद ऐसी चीज है, जो अधिकांशतः कोई निर्मल परिष्कृत वस्तु नहीं होती। इसीलिए मैं कहता हूं कि 'निर्बल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा अनुर्वरता की परिचायक है।"[१] इस प्रकार जोशी जी यह संकेत देते हैं कि संकीर्ण नीति संस्कृति में भी संकीर्णता ला देती है।

जोशी जी मानते हैं कि वास्तविक संस्कृति के पास पहुंचने के लिए ज्ञान और शक्ति का कोई भी उपलब्ध रूप हमें ग्रहण करना पड़ेगा : "पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है तो वह श्रेष्ठ है, और पुण्य भी यदि दुर्बल है तो तुच्छ है। प्रसिद्ध रूसी कवि पुश्किन ने कहा है : अधम सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है जो हमारी आत्मा को उन्नत, जागृत करता है।[२]

संस्कृति विकसित और अप्रतिष्ठित कैसे होती है ? जोशी जी के अनुसार यह कार्य प्रतिभाशाली पुरुषों का है : "सांसारिक पुरुष प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत के सुख दुख को लेकर व्यस्त रहता है, पर प्रतिभाशाली व्यक्ति इन बंधनों को नहीं मानना चाहता और इनसे

---

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, देखा-परखा, पृ० १०५.
२. " वही···, पृ० १०३.

बहुत गहरे में सामूहिक मानव की मूलगत अनुभूतियों का मर्म समझने में मग्न रहता है। राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति इन इने-गिने लब्ध-प्रतिभ मनीषियों के द्वारा ही प्रतिष्ठित होती है·····।"[१]

वे यह आवश्यक मानते हैं कि संस्कृति को सृष्टिरूपिणी होना चाहिए, बन्ध्या नहीं। संस्कृति में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो का महत्व है। संस्कृति चिरप्रगतिशील है, किन्तु प्रगतिशीलता का अर्थ भूतकाल का तिरस्कार नही। उससे तो मुक्ति नहीं: "हम चिर नवीन की ओर बढ़ने के लिए कितनी भी कूदफांद मचावें पर चिरपुरातन प्रतिपल "हमारे जाने या अनजाने में" भूत की तरह हमारे साथ लगा रहेगा। यह ध्रुव निश्चित है, इसी कारण आदिम मनुष्य की असभ्य वृत्तियाँ अब भी हमारे साथ हैं·····आधुनिक मानव अपनी उन मूल-प्रवृत्तियों को भूलना और दबाना चाहता है, जो उसे बर्बर युग से बल्कि उससे भी पहले से प्राप्त हुई हैं। इन प्रवृत्तियों से उत्पन्न विकृतियां से निराकरण का सहज उपाय यह है कि हमें उन्हें सहज रूप में लेना चाहिए।"[२] इस प्रकार प्रवृत्तियों में व्यक्त होने वाली शक्ति को मूलशक्ति कहकर जोशी जी यह संकेत देते हैं कि दमन से नहीं किंतु सांस्कृतिक विकास में उसके नियोजन से ही मनुष्य मंगल का साधन कर सकता है। मूल शक्ति अपने सहज रूप में शिव है, अशिव तो वह कृत्रिम बनकर होती है: "इसीलिए मैंने कहा है कि मानवीय संस्कृति के विकास की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रगति को रूद्ध करके एक मूलतः नयी "और स्वभावतः कृत्रिम" संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा मानव जाति के दांभिक नेताओं द्वारा जब जब हुई है, तब तब उसका उल्टा परिणाम हुआ है।" तब आवश्यक क्या है?

---

१. इलाचन्द्र जोशी. देखा परखा, पृ० १०५.

२. श्री इलाचन्द्र जोशी, विश्लेषण, ९५.

आवश्यक यह है कि संस्कृति की सच्ची प्रगति के लिए हमें साहित्य से अधिक सहायता लेनी पड़ेगी। साहित्य के भूत और वर्तमान से उत्पन्न संस्कृति की मूल बीजक शक्तियों का सामंजस्य द्वारा लाभान्वित होकर विश्व कल्याण की आंतरिक प्रेरणा से भविष्य के लिए अग्रसर होना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि हम भूत से जकड़े न रहकर उसके आधार पर संस्कृति की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

जोशी जी कालक्रम के अनुसार साहित्य और संस्कृति में उत्तरोत्तर विकास भी बतलाते है। उनके अनुसार प्राचीन युग में संस्कृति का जो रूप रहा है, वह साहित्य के माध्यम से ही परिमार्जित एवं परिष्कृत हुआ है। प्रारंभिक साहित्य से संस्कृति के उसी रूप की आशा की जा सकती है जो बर्बर व्यक्तियों का रहा है। प्रारंभिक संस्कृति के तत्वों में इसी कारण किन्हीं तत्वों 'का विशेष रूपदर्शन नहीं हुआ है। आदि-काल के साहित्य में "वैदिक ग्रंथों में" प्राकृतिक शक्तियों की छुट-पुट स्थिति और उपासना के सिवा कुछ नहीं है, उसे वे बालविमुग्धता का साहित्य बताते हैं।

इस प्रकार जोशी जी की दृष्टि में साहित्य केवल संस्कृति का पर्याय ही नहीं उसका परिष्कर्ता भी है। संस्कृति के मूल्य साहित्य के द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं। मूलशक्ति की अक्षुण्ण धारा जब साहित्य में अकृत्रिम अभिव्यंजना पाती है तब संस्कृति का विकास संपन्न होता है।

साहित्य में प्रगतिशीलता :

जोशी जी ने साहित्य और संस्कृति के विषय में जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि वे कालतत्वों को बहुत महत्व देते हैं। काल गतिशील है। और यदि वह आधारभूत है तो साहित्य को भी निरंतर प्रगतिशील होना चाहिए इस धारणा को आधार बनाकर उन्होंने भारतीय साहित्य के विशाल चित्रपट पर दृगपात करते हुए उसमें प्रगतिशीलता के तत्व

का निरूपण किया है। उनका यह निरूपण अपने ढंग से रोचक है। यहां हम उसके कुछ अंशों का उल्लेख करते हैं।

प्राचीन साहित्य के विकास की रूप रेखा उनकी दृष्टि में यह है: वैदिक साहित्य.....कवियों की अस्फुट काकली है। उसके बाद सभ्यता का विकास उत्तरोत्तर कुछ ऐसे प्रतापी व्यक्तियों द्वारा हुआ जिनके पीछे साहित्य में कथा से लेकर महाकाव्य तक निर्मित हुए। इस समय तक कवि प्राकृतिक शक्तियों की अपेक्षा समाज और उसकी समस्याओं से अधिक आकर्षित हुए। भाववेदनात्मक कविता का बीज आदि कवि की :

"मा निषाद प्रतिष्ठामत्वमगमः शाश्वती समा :।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काम मोहितम्।"

से पड चुका था। कवियों में अन्य तत्व जैसे करुणा, प्रेम, अहिंसा आदि प्रविष्ट होते गए। रसानुभूति वैदिक काल से लेकर वीरकाल तक साहित्य सागर की ऊपरी सतह पर तैरती रही। बौद्ध युग के पूर्व में उसमें एक विशेष बाढ़ आ गई। इस विलासिता की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म के रूप में एक नकारात्मक प्रगतिवादी आन्दोलन चल पड़ा, परन्तु गुप्तकाल में रोमान्टिक भावधारा का वेग फिर से परिपूर्णता को प्राप्त हुआ.....कालिदास के साहित्य में सामन्तयुग की उन्नत कला का चरम निदर्शन मिलता है।"[१]

इस प्रकार जोशी जी प्राचीन साहित्य में क्रमशः प्रकृति सौन्दर्य, चरित-काव्य, भावाभिव्यंजक काव्य और सामंतयुग की उन्नत साहित्य-कला का आगमन देखते हैं।

हिन्दी साहित्य के संपूर्ण चित्रपट पर भी उन्होंने दृगपात किया है। उनकी इस व्याख्या में युग की आवश्यकता और द्वन्द्वात्मकता नियामक प्रतीत होते हैं। वीरगाथाकाल प्रतिरोध का युग था। उसमें भटैती

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, २-३.

काव्य का विकास हुआ। पराधीनता काल में धर्मों के बीच युद्ध आरंभ हुआ। परिणामतः संतकवियों द्वारा एक ओर विवेक की दृढ़ता दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रेम की रसमयता इन दोनों शाखाओं द्वारा क्रान्ति की नई लहर फूट पड़ी।[१] यह प्रेमधारा क्रमशः एकांगी हो गई और कवियों ने अपनी दमित यौनवृत्तियों को आध्यात्मिकता के सहारे प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया। जोशी जी की दृष्टि में "जयदेव" का काव्य दमित यौन वृत्ति के विकारों से ग्रस्त पागल का प्रलाप है। सूर ने राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम में आध्यात्मिक आशय युक्त किया। तुलसी ने युग के नैतिक ह्रास, धार्मिक-पाखंड, जन साधारण की आर्थिक और सामाजिक विवशता, रोग-शोक ओर दुख-दारिद्रय का उल्लेख अपनी रचनाओं में बार-बार किया है। मीरा क्रांति के क्षेत्र में नारी समाज की प्रथम प्रतिनिधि बनकर आई।

आधुनिक युग में भी साहित्य प्रगतिशील है "छायावादी युग ठीक उसी अर्थ में प्रगतिशील रहा है, जिस अर्थ में पूंजीवाद अपने प्रारंभिक युग में प्रगतिशील रहा है, पूंजीवाद ने 'नए नए औद्योगिक आविष्कारों के द्वारा मानव जाति को आगे बढ़ने के बहुत से साधन और महत्वपूर्ण सुविधाएं प्रदान की पर जो बुराई पूंजीवाद में मूलगत रूप से वर्तमान थी वही दूसरे क्षेत्र में छायावाद में भी निहित थी।"[२] आत्मवाद के प्रतिरोध में प्रगतिवाद का आगमन हुआ। छायावाद और प्रगतिवाद में क्रमशः यौन संबंधी भावनाओं और वर्ग समस्या को प्रधानता मिली। एकांगिता दोनों में ही है। इस आधार पर 'फ्रायड' और 'मार्क्स' को परस्पर पूरक मानकर अन्त में जोशी जी यह मत प्रकट करते हैं कि "हिन्दी साहित्य में जो प्रगतिवादी क्रांति चली है, वह सचमुच हमारे साहित्य के लिए परम मंगलकारिणी है और

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना : भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता, पृ० ६.
२. ···वही··· पृ० १६.

वास्तविक जीवनदायिनी सिद्ध होकर रहेगी, पर इस समय उसका जो रूप है, उसे निश्चय ही परिमार्जित होना होगा। मेरा ध्रुव विश्वास है कि अब अस्तकाल के छायावाद और उदयकाल के प्रगतिवाद के द्वंद्व से, एक ऐसे वाद की उत्पत्ति हो रही है जो प्रगतिशीलता का सच्चा स्वरूप हमारे सामने रखेगा।"[१]

कथा साहित्य :

जोशी जी के अनुसार हिन्दी समीक्षकों द्वारा कथासाहित्य के प्रति न्याय नहीं हुआ है, वे कहते हैं : "मैं कथा साहित्य को बहुत गंभीर महत्वपूर्ण तथा व्यापक विषय मानता हूं। **कलात्मक** साहित्य के इस विभाग के सम्बन्ध में जैसी भयंकर गलतफहमियां, जैसी घोर अज्ञता वर्तमान आलोचना साहित्य में पाई जाती है, वह अत्यंत आश्चर्य-जनक रूप मे शोचनीय है, इसलिए इस विषय की यथार्थता को और विशदरूप से समझाने का प्रयत्न करने की उत्कट इच्छा मेरे मन में सदा रही है।"[२]

कहानी और उपन्यास कथा साहित्य के दो अंग है। प्राचीन कहानियों का उद्देश्य विशेषतः शिक्षा और मनोरंजन था। आधुनिक कहानी का उद्देश्य इससे भिन्न है : उसका उद्देश्य है स्वाभाविक रीति से यथार्थ मूलक सौन्दर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना। हृदय के भाव नाना अवस्थाओं में बदलते रहते हैं। जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्षों से उल्टी-सीधी गति से चलता रहता है। इस सुवृहत चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की क्षणिक गति को प्रदर्शित करने, हृदय के भावों की किसी विशेष अवस्था के रंगों को रंजित करने में ही कहानी की विशेषता है। संसार में प्रत्येक पल की कहानी उसी पल में समाप्त होकर अनन्त से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा

१. श्री इलाचन्द्र जोशी : भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता : विवेचना, पृ० २३.
२. ...वही...विवेचना : निवेदन.

की मार्मिकता, यथार्थवादिता और व्यक्तित्व के उन्नयन को आदर्श मानते हैं।

साहित्य, उपन्यास और मनोविज्ञान :

साहित्य और उपन्यास के विषय में व्यापक दृष्टिकोण रखते हुए उसमें मनोवैज्ञानिक तत्व को जोशी जी ने विशेष महत्व दिया है। विश्व उपन्यास के क्रमिक विकास का वर्णन करते हुए, उसमें उन्होंने मनोवैज्ञानिक तत्व की क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म होते जाने की चर्चा की है। आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों को वे क्रान्तिकारी रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी कृतियों में भी उनका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। मनोविज्ञान के जिस आधुनिक संप्रदाय को उन्होंने प्रश्रय दिया है वह मनोविश्लेषण है। मनोविश्लेषण के तीन उन्नायक फ्रायड, एडलर और युंग है। जोशी जी इसी क्रम में उनमें अधिकाधिक प्रभावित होते गए हैं, अतएव इन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के विषय में जोशी जी की धारणा का आकलन उपयोगी होगा।

फ्रायड की लोकप्रियता का कारण जोशी जी के अनुसार यौनशक्ति को मानव मन की मूलपरिचालिका शक्ति मानना ही रहा है। फ्रायड की प्रतिपत्ति जोशी जी इस रूप में देखते हैं: "सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य यौन प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा है और वह विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। पर वे दमित मनोवेग एक दम लुप्त नहीं हो जाते बल्कि उसके सचेतन मन के नीचे, मन के अचेतन भाग में एकचित होते रहते हैं।"[1] इनके द्वारा कालान्तर में मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। स्वप्न में भी दमित भावनाओं का रूप

१. श्री इलाचन्द्र, जोशी, विश्लेषण, पृ० १०७.

में है। छोटी कहानी में पल की यही क्षणिक गाथा वर्णित की जाती है। "आधुनिक युग की ललित कला के विशिष्ट अंग के रूप में कहानी की विशेषता यह है:" (वह) व्यक्ति के प्रतिदिन के साधारण जीवनकी वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप में अंकित करके उसे अनंत की सत्ता के साथ मिला देनेमें समर्थ होती है। मनुष्यका प्रतिदिन का जीवन कोई भौतिक लीला नहीं है : वह सत्य है, वह वास्तविक है। कविता में भले ही उस जीवन की छाया प्रदर्शित की जाय, किन्तु कहानी में उसकी वास्तविक प्राणसत्ता प्रकट होना चाहिए।"[१] कहानी के आदर्श के विषय में जोशी जी का मत है कि "कहानी के मूलभावों का सम्बन्ध मष्तिक द्वारा विश्लेषित हृदय से होना चाहिए। उसका उद्देश्य रसावेग को उभाड़ने का अधिक होना चाहिए, शिक्षावृत्ति को जागरित करने का नहीं। वह सत्तात्मक होना चाहिए, छायात्मक नहीं।"[२]

कथा साहित्य के दूसरे अंग 'उपन्यास' का आदर्श इस प्रकार है "न केवल मात्र घटना चक्रों की बहुलता से कोई औपन्यासिक रचना श्रेष्ठ मानी जा सकती है, न घटनाओं के वर्जन, कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और तटस्थ दार्शनिक विवेचन से। घटनाचक्र आलेक्सान्द्र, ओपेहाइम और एडगर-वालेस के उपन्यासों में पूर्ण प्रवेग के साथ पाए जाते हैं, पर कभी किसी साहित्य विवेचक ने कलाकारों की श्रेणी में उनकी गिनती नहीं की है।"[३] उपन्यास में उक्त बातों की अपेक्षा जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह यह कि लेखक की रचना ठोस जीवन के केन्द्र पर स्थित है या नहीं, जीवन के मर्म को छूती है या नहीं और कठोर वास्तविक जीवन संघर्ष के माध्यम से ही रुग्ण जीवन का उपचार सुझाने में समर्थ है या नहीं। इस प्रकार जोशी जी उपन्यास में जीवन

१. इलाचन्द्र, जोशी, विवेचना
२. .. वही .., विश्लेषण, पृ० १६२.
३. .. वही .., विवेचना, पृ० ९६.

देखने को मिलता है। फ्रायड के अनुसार मानसिक विकृतियों का कारण है, "दमित यौनवृत्ति।" साथ ही उसने सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियों का उदात्तीकृत रूप बताया है। जोशी जी के अनुसार असंख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो कि यौनवृत्तिसे संबद्ध नहीं हैं। फ्रायड के इस अतिवाद का वे विरोध करते हैं।

एडलर के मत को वे अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उसके जिन मूल तत्वों का उल्लेख उन्होंने किया है वे क्रमशः आत्महीनता की भावना, क्षतिपूर्ति और अतिरिक्त क्षतिपूर्ति है। मानव शिशु सुदीर्घ काल तक असमर्थ और असहाय रहता है। परिणामतः व्यक्ति में हीनता की भावना बद्धमूल हो जाती है, "मनुष्य अज्ञात रूप से अपनी हीनता और असमर्थता से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता" रहता है और किसी न किसी रूप में अपनी स्वाभाविक कमी की पूर्ति अवश्य करता है। अपनी जन्मजात अक्षमता को दूर करने के उद्देश्य से उसकी अन्तश्चेतना में शक्ति प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा जागरित हो उठती है और वह जीवन भर नाना उपायों से शक्ति संचय की चेष्टा करता हुआ, दूसरों पर अपनी विजय प्राप्त करने और अपनी धाक जमाने के लिए अत्यन्त उत्कंठित हो उठता है। ..... वास्तविक जगत के स्थिर निश्चित नियमों के साथ जब उसकी महत्वाकांक्षा का संघर्ष होता है, तो उसे भयंकर निराशा का सामना करना पड़ता है। ..... उसकी यह विजयाकांक्षा बाद में नानापरोक्ष उपायों का अवलम्बन करती है। किस व्यक्ति की महत्व कामना कौन रूप धारण करेगी, यह उसके शैशव जीवन की विशेष परिस्थितियों के कारण उनके मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता है।"[१] वास्तविक जगत में पराजित होने पर व्यक्ति की जीवन साधना अन्तर्मुखी हो जाती है और वह अपने भीतर की सारी शक्ति को एक काल्पनिक लोक की

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, पृ. ५६.

विजय यात्रा के लिए निमन्त्रित करने लगती है। क्षतिपूर्ति से सन्तुष्ट न होकर मनुष्य अतिरिक्त क्षतिपूर्ति चाहता है। इससे·····न व्यक्ति को लाभ होता है न समाज को·····और वह चाहे जिस रूप में भी प्रकट हो, वह घोर स्वार्थ के भाव से ओतप्रोत रहती है, यह बात निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुकी है। छायावादी काव्य में जोशी जी यही काल्पनिक और अतिरिक्त क्षतिपूर्ति देखते हैं।

युंग ने भी सामूहिक अचेतन के सिद्धांत द्वारा फ्रायड की भ्रान्ति को दूर किया। इस सिद्धांत को वे भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान में पूर्व वर्णित मानते हैं। युंग के अनुसार मानव के अवचेतन मन का महत्वपूर्ण निर्माण सामूहिक और सामाजिक कारणों से समष्टिगत रूप से हुआ है, व्यक्तिगत रूप से नहीं। आदिम काल से सभ्यता के विकास क्रम में यह प्रवृत्तियाँ संस्कार रूप से अवशिष्ट रह गई हैं। नए युगों में यह प्रवृत्तियों के उभरने से पुरानी प्रवृत्तियाँ क्रमशः दबती चली गईं। ये प्रवृत्तियाँ साधारण अवस्था में रूपदर्शन नहीं कराती हैं परन्तु असाधारण अवस्था में वे जब पूरे वेग से विस्फोटित हो उठती हैं तब सचेतन मन में भारी तहलका मच जाता है। अन्तस्तल में निहित कौनसा स्तर कब और क्यों उत्कट तूफान मचा बैठेगा। इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है पर इतना सम्भव है कि यदि अंतरजीवन का अध्ययन उचित रूप से करने का अभ्यास डाला जाय और उसके विश्लेषण की समूचित विधि का ज्ञान हो जाय तो यह जाना जा सकता है कि किस विशेष कोटि के स्तर की कौन विशेष प्रवृत्तियाँ ऊपर उठ रही हैं।[1] इस अध्ययन से व्यक्ति विनाशी अथवा **समाजवादी** तूफानी प्रवृत्तियाँ हमारे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर पातीं। इसी प्रसंग में बाह्य जीवन का अन्तर जीवन पर प्रभाव बतलाते हुए जोशी जी आलोचकों से निवेदन करते हैं कि उन्हें सामंजस्य करते वाली पद्धति को अपनाना चाहिए।

१. श्री इलाचन्द्र जोशा, विवेचना

जोशी जी का प्रगतिशील यथार्थवाद :

ऊपर हम देख चुके हैं कि इलाचन्द्र जोशी प्रगतिशीलता को साहित्य की एक मौलिक विशेषता मानते हैं। इसी प्रकार वे यथार्थवाद के हामी भी हैं। किंतु प्रगति और यथार्थ दोनों के विषय में उनकी धारणा इन शब्दों की प्रचलित मान्यता से कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों से समन्वित होकर ही यथार्थ पूर्ण होता है। अभी तक यथार्थ के नाम पर केवल बाह्य यथार्थ को ही प्रश्रय दिया गया है। इसकी एकांगिता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि यदि वे प्रगतिवादी जानबूझकर प्रगतिवाद के नाम पर संस्कृति के क्षेत्र में सौ वर्ष पुरानी मार्क्सीय रूढ़िवादिता को अपनावें और यथास्थित्यात्मक दृष्टिकोण का अनुकरण करना चाहें तो·····इसका उन्हें पूरा अधिकार है। पर यदि वे सच्चे हृदय से यह मानते और चाहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर किसी भी यथा-स्थित्यात्मक जगड्बाल को, "चाहे वह मार्क्सीय ही क्यों न हो", अपनाये रहना घोर मूर्खता है तो मैं उनसे अनुरोध करूंगा कि वे मेरे नए प्रगतिवाद का अनुसरण करें जिस में वास्तविक बाह्य प्रगति तथा अन्तरीय प्रगति को समान समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है।"[१] इस व्याख्या में और आगे वे अभिमत प्रकट करते हैं कि बाह्य प्रगति तथा अन्तर्प्रगति का पारस्परिक सम्बन्ध है। शताब्दी के महाक्रान्तिकारी वैज्ञानिक आइन स्टाइन के "स्पेस टाइम कन्टीन्युअम के सिद्धान्त के अनुसार देश और काल के अविच्छिन्न तथा अनिवार्य रूप से अन्योन्याश्रित "और सापेक्षिक" सम्बन्ध की तरह है। इनमें से एक के सापेक्षिक आधार के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही नहीं रह पाता।"[१]

उपर्युक्त वक्तव्य से अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह है कि जोशी जी ज्ञान और विज्ञान की अधुनातम उपलब्धियों के द्वारा

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना "भूमिका".

साहित्य के स्वरूप निर्णय के हिमायती हैं। द्वितीय यह कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों से वे इस बात से भिन्न हैं कि वे बाह्य यथार्थ को भी स्वीकार करते हैं और उसे केवल सांकेतिक उल्लेख की वस्तु मानने की बात नहीं करते। तृतीय यह कि अन्तर्जगत को पूर्ण स्वीकृति देने में वे मार्क्सवादियों से भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में एक व्यापक समन्वय की चेष्टा परिलक्षित होती है। इसलिए उन्हें केवल मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहना बहुत न्याय-पूर्ण प्रतीत नहीं होता है।

फ्रायड और मार्क्स की महान प्रतिभा का उपयोग करने तथा दोनों की दुर्बलताओं को दूर करने के लिए वे उनमें समन्वय चाहते हैं। उन की दृष्टि में दोनों के सिद्धान्त एक ही सत्य की दो धाराएं हैं। अन्त-र्जीवन विशेष उपेक्षित होने के कारण वे उस पर विशेष जोर देते हैं। उनकी धारणा है कि "पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विस्तार के पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण छिपे हुए हैं। मनुष्य के सामूहिक अवचेतन मन के भीतर दबी हुई कुछ विशेष प्रवृत्तियों का सामूहिक उभार इनके विकास का कारण है, यह बात बड़ी आसानी से सिद्ध की जा सकती है। इन सब बातों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि केवल बाह्य जीवन की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था और उसके परिणाम-स्वरूप वर्ग संघर्ष को ही बाहरी और भीतरी जीवन की एक मात्र परिचालिका शक्ति मानना और केवल उसी से संबंध रखने वाले तत्वों की खोज के पथ को "प्रगतिशीलता" का एक मात्र पथ बताना घोर भ्रममूलक है।"[१]

मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग भी विकास के लिए होना चाहिए। इस विषय में पश्चिम के उपन्यासकारों ने जो कुछ किया है, जोशी जी उससे असहमत हैं। उनके अनुसार वे लेखक बौखलाए हुए मानो फ्रायड से कहना चाहते हों, "तुम सभ्य मनुष्य को सेक्स संबंधी विकृतियों द्वारा

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विवेचना, पृ. १६७,१६८.

चालित पुरजा मानते हो तो लो, हम सेक्स को उसके स्वस्थ और आदिम रूप में अपनाने के लिए बंदर बन जाते हैं।"[१] कुछ लेखक अपने पात्रों का मनोवैज्ञानिक निरूपण करते हुए भी अनुपयुक्त विधि से पाठकों के मन में उनके प्रति करुणा और सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। जोशी जी के अनुसार यह अयथार्थमूलक और अकल्याणकारी भी है। उदाहरण के रूप में वे शरतचन्द्र और उनके देवदास का विशेष उल्लेख करते हैं। जोशी जी लोकमंगल को साहित्य का उन्नत लक्षण समझते हैं; किन्तु यह कार्य यथार्थ के स्वरूप को अखंडित रखकर उसके ही माध्यम से होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक ज्ञान द्वारा अपनी दुर्बलताओं को जानकर मनुष्य उनसे मुक्त हो सकता है। मुक्ति का यह उद्देश्य ही मनोविज्ञान को सत् साहित्य का सहयोगी बना सकता है।

जोशी जी का आत्म निरीक्षण :

उपन्यास को अपना माध्यम बनाने के विषय में जोशी जी लिखते हैं : "निरंतर कटु और कठोर यथार्थ से संघर्ष होते रहने से मुझे अनजान में ही लगा कि स्वयं अपनी और सारे समाज की वास्तविक पीड़ाओं का चित्रण कविताओं की अपेक्षा मैं उपन्यास के माध्यम से अधिक ईमानदारी और सच्चाई के साथ कर सकता हूं। कविता द्वारा केवल सांकेतिक शैली में ही उस मर्म पीड़ा का भावात्मक आभास दिया जा सकता है, पर उपन्यास के द्वारा उसे जीवन और ज्वलंत सत्य का रूप दिया जा सकता है, साथ ही औपन्यासिक शैली में काव्यगत भावपक्ष तो निहित है ही।"[२]

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए जोशी जी अपनी स्थिति को शरतचन्द्र, जैनेन्द्र और अज्ञेय तीनों से ही भिन्न

---

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, आलोचना, अंक ११, पृ. १८.

२. साहित्य संदेश, आधुनिक उपन्यास अंक: उपन्यास कैसे लिखे गए; पृ. ७७

बतलाते हैं। शरतचन्द्र ने देवदास की मनोविकृति के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करके उसके पतन को जो मोहक रूप दिया है उसे अनुचित बतलाते हुए जोशी जी कहते हैं: "पर मैंने नन्द किशोर की मानसिकता के विश्लेषण में भावुकता का तनिक भी सहारा न लेकर उसे पाठकों के आगे यथार्थ रूप से रख देने का प्रयत्न किया है क्योंकि मेरी राय में भावुकता के रंग में रंगे हुए काल्पनिक चित्र की अपेक्षा यथार्थ रेखाओं द्वारा अंकित गहन मनोवैज्ञानिक चित्र अधिक महत्वपूर्ण और जीवन की वास्तविकता को समझाने में अधिक सहायक सिद्ध होते हैं।"[१] जैनेन्द्र जी भी हरिप्रसन्न के प्रति आसक्ति के दोषी हैं। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' को उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई चीज बतलाते हुए कहते हैं, कि शेखर का आधार है, उसका अत्यंत गहन, तीव्र, सर्वगामी और सर्वग्रासी अहंभाव, "शेखर की अहंभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिए उन्मुख होती गई है वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती ·····"[२] इसके विपरीत अपने विषय में जोशी जी कहते हैं "मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेय जी से ठीक उल्टा दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है, "घृणामयी," "संन्यासी," "पर्दे की रानी," "प्रेत और छाया," "निर्वासित" इन पाँचों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है।[३] इस तटस्थता की सिद्धि में जोशी जी को मनोविज्ञान से सहायता मिली है: "यदि मैं तीखे मनोवैज्ञानिक अस्त्रों का उपयोग न करता तो मेरे चरित-नायक, सभ्य, सुन्दर और सहज सहानुभूति के योग्य जान पड़ते। पर उनका ऐसा

---

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विश्लेषण, पृ. १६६.

२. ...वही ..., विवेचना, पृ. १२२.

३. ...वही ..., विवेचना, पृ. १२३.

छद्म रूप समाज के आगे रखना मेरी यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृति को अभीष्ट न था; क्योंकि ऐसा करने से मैं जान बूझकर पाठकों को धोखे में डालता।"[१]

अपनी पात्रियों के चुनाव में भी जोशी जी ने एक विशेष दृष्टि से काम लिया है। इस कार्य के लिए ऐसी ही नारियाँ उन्होंने चुनी हैं जिन्हें जीवन की घनघोर संघर्षमयी परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है और जिनकी अवचेतना में निहित विद्रोह के बीजरूपी अणुओं में उन संकटाकुल परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष के लिए रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयंकर विस्फोट में परिणित होने की संभावना रही है। "मेरे नारी पात्रों में त्याग और तपस्या की तनिक भी कमी न होने पर भी उन्होंने कभी आत्मकामी, अहंवादी और अत्याचारपरायण पुरुष पात्रों के साथ समझौता नहीं किया है।"

भविष्य का उपन्यास :

अपने नए दृष्टिकोण के पूर्ण प्रतिफलन की कल्पना करते हुए जोशी जी ने भविष्य के उपन्यास की रूपरेखा का भी इस प्रकार संकेत दिया है : "स्त्री पुरुष के प्रेम की वैयक्तिक अनुभूति को उसमें किसी भी रूप में तनिक भी महत्व न दिया जायगा। न उस तरह के प्रेम की तथाकथित "स्वर्गिक चेतना की महत्ता" उसमें परिस्फुटित होगी। न मनोवैज्ञनिक विधि से उसकी विकृति का ही विश्लेषण होगा। प्रेम संबंधी चेतना की जो प्राकृतिक धारा सभी पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यापक मानवीय संबंधों में सूक्ष्म अन्तर्धारा के रूप में वर्तमान पाई जाती है, अन्तर और बाह्य प्रकृति के मूलतत्वों से जिनका युग युग तक संबंध रहा है; जो आज की विविध विषमताओं और विरोधाभासों से संपूर्ण युग में ऊपर से एकदम विच्छिन्न और विकृत रूपों के

१. श्री इलाचन्द्र जोशी, विश्लेषण, पृ. १६५.

पर्दों की ओट में छिपी होने के कारण अस्तित्वहीन लगती है, उसी' का परिस्फुटन उसमें जीवन रस से घुली मिली एक नई ही शैली द्वारा किया जायगा। ..... आज संसार के विभिन्न वर्गों, विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच जो परस्पर विध्वंसक संघर्ष चल रहा है उसकी अनिवार्य समाप्ति किन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होकर रहेगी, उसका भी संकेत उस उपन्यास में विचित्र नवीन जीवन धारा के सहज स्वरूप के भीतर से प्राप्त होगा। .....इस उपन्यास के चरितनायक किसी विशेष समाज की विशिष्टता न हो कर रवीन्द्र के गोरा के भांति होंगे।"

: ६ :

आरम्भिक उपन्यास

भूमिका :

इलाचन्द्र जोशी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपनी काव्यकृति "विजनवती" के साथ प्रवेश किया; किन्तु कवि के रूप में यथाविधि यह उनका एकाकी प्रयास है। और आज एक उपन्यासकार और कहानी लेखक के रूप में वे इतने प्रतिष्ठित हो चुके हैं कि वह उनकी साहित्य सर्जना में अपवाद स्वरूप प्रतीत होती है। उनका प्रथम उपन्यास "घृणामयी" नाम से सन् १९२९-३० में ही प्रकाशित हो चुका था किन्तु इसके बाद दूसरे उपन्यास के आगमन तक एक बहुत लम्बा समय व्यतीत हुआ। 'घृणामयी' एक विद्रूप प्रधान कृति थी। उसकी नायिका में आत्म-विगर्हणा के भाव को पूर्ण तीव्रता की स्थिति में अंकित किया गया था। इसी आधार पर उसे "घृणामयी" संज्ञा प्रदान की गई थी। इस उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहने के लिए कोई उपयुक्त आधार नहीं है। एक तरुण की एक विशेष प्रकार भाव प्रेरित कल्पना का उद्दाम वेग उसमें दिखाई देता है। समीक्षकों के पास यह कृति बहुत आदर न पा सकी। उसकी तीव्र आलोचना हुई। संभवतः इसी के परिणाम स्वरूप बहुत बाद में जोशी जी ने उसे संशुद्ध करके "लज्जा" शीर्षक देकर उसका पुनः प्रकाशन कराया। "लज्जा" "घृणामयी" का ही रूपान्तर होने के कारण उनकी प्रथमकृति मानी जाती है। इसकी शैली 'घृणामयी' के समान आत्मजीवनी मूलक है, जिसमें

नायिका स्वयं अपने मुख से अपने जीवन की कहानी बतलाती है। उस में भी पाप की अनुभूति अत्यंत प्रबल है और उसी समस्त जीवन कथा पर घनघोर आत्म विगर्हणा का आवरण चढ़ा हुआ है। इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उपयोग की यह विशेषता दिखाई नहीं देती, जो बाद में जोशी जी के उपन्यासों का प्रमुख वैशिष्ट्य बनी। यह अवश्य है कि लज्जा में मनोविश्लेषण के तत्वों का भी यत्र तत्र संक्षिप्त उल्लेख है, जिससे जोशी जी की एक मुख्य प्रवृत्ति की सूचना मिलती है, इस सूचना का विकसित स्वरूप हमें "सन्यासी" और "पर्दे की रानी" में प्राप्त होता है। "पर्दे की रानी" तक पहुंच कर जोशी जी के मनोवैज्ञानिक आदर्श और उनके उपन्यास चिंतन की रूप रेखा पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। उनके पात्र चयन की विशेषता और उनके आन्तरिक चरित्र की विशेष समस्याओं से भी हम पर्याप्त परिचित हो जाते हैं। चरित्र चित्रण के वे विशेष लक्षण जिनकी जोशी जी के उपन्यासों में बार बार पुनरावृत्ति होती है और जिन्हें आधार बनाकर वे अपने जीवन दर्शन को अग्रसर करते हैं "पर्दे की रानी" तक स्पष्ट उभर आते हैं; अतएव उनकी आरंभिक कृतियों की व्याख्या में हम लज्जा, सन्यासी और पर्दे की रानी को आधार बनाकर आगे बढ़ेंगे।

"लज्जा" :

इस कृति में उपन्यासकार का प्रमुख लक्ष्य नायिका की आत्म-विगर्हणा द्वारा अपने भाई की हत्या के कारण उन कार्यों के प्रति प्रायश्चित है, जो उसकी दमित वृत्तियों एवं यौन भावना के कारण पूर्ण हुए। भाई की मृत्यु के साथ ही पिता की मृत्यु भी उसी का परिणाम है। इसका ही पूर्ण चित्र जोशी जी ने अपने उपन्यास में दिया है।

कथानक :

कथानक की दृष्टि से उपन्यास में केवल एक परिवार के विभिन्न पात्रों के कार्यों का उल्लेख ही है। दो भाग में कथानक मिलता है।

आत्म प्रतारणा संबंधी उक्तियां आदि और अंत में अपना स्थान रखती हैं और मध्य में उपन्यास व्यापार का प्रदर्शन किया गया है। उपन्यास में नायिका का स्वानुभव ही कथा की प्रगति करता है।

लज्जा धनी परिवार की पात्री है। राजू सदृश गुणी भाई से उसका बचपन से प्रेम रहा है; परन्तु वय की अधिकता ही इस स्नेह को कम करती जाती है। लज्जा का आकर्षण चाचा के मिलने वाले दो मित्रों से होता है और इनमें भी वह प्रीति भोज के समय डा० कन्हैयालाल से विशेष प्रभावित होती है। डा० कन्हैयालाल के साथ उसकी बढ़ती हुई घनिष्ठता राजू जैसे उदार, संयमी एवं तीव्र बुद्धि वाले भाई को सहन नहीं। राजू कतिपय अवसरों पर डा० कन्हैयालाल की धज भी उड़ाता है जो लज्जा के संताप का कारण भी बनता है। यह कार्य व्यापार क्रमशः वृद्धि पाता है। डा० कन्हैयालाल का एक फेमिली डाक्टर के रूप में घर पर ही रहना, विभिन्न नाटकों, चल चित्रों आदि को साथ-साथ देखना आदि लज्जा की मानसिक स्थिति में परिवर्तन लाते हैं और वह अपने भाई की अपेक्षा डा० कन्हैयालाल की ओर विशेष आकृष्ट होती है। क्षणिक आत्म-समर्पण के भाव भी स्थल स्थल पर स्पष्ट होते हैं। लज्जा और राजू विभिन्न मार्ग अपनाते जाते हैं। लज्जा के कार्य भी समाज की दृष्टि से असंस्कृत कोटि के होना प्रारम्भ हो जाते हैं, जिसका प्रभाव राजू पर विशेष रूप से घातक पड़ता है और यही कार्य उसकी मृत्यु के उपादान बनते हैं। राजू की मृत्यु लज्जा को मोहकता की स्थिति से उठाकर यथार्थ की ओर अग्रसर करती है, परंतु चाचा की मृत्यु उसे अपने कार्यों के प्रति विशेष प्रताड़ना से पूर्ण करती है। वह राजू के कमरे से एक डायरी भी पाती है, जिसमें उसे राजू के निश्छल एवं पवित्र-पावन हृदय का भी आभास मिलता है। वह डाक्टर साहब से घृणा करने लगती है; क्योंकि उनका स्पष्ट रूप उस के समक्ष आ जाता है। डाक्टर साहब के साहचर्य में उत्पन्न होने वाली

काम चेष्टाओं का अंकन जोशी जी ने अपने उपन्यास में विस्तृत रूप से किया है।

पात्र :

इस उपन्यास में प्रमुख दो पात्र है, एक राजू और दूसरी लज्जा। लज्जा के चरित्र का उद्‌घाटन ही इसमें विशेष है। राजू की सात्विक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों के विरोध में लज्जा की दमित यौनवृत्ति से पूर्ण भावनाओं का प्रदर्शन है। अन्य पात्र जैसे डा० कन्हैयालाल, माधवी-दीदी, काका आदि लज्जा के चरित्र की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। लज्जा के आकर्षण के समय उसकी हृदय-निसृत भावनाओं का एक उदाहरण इस प्रकार है. आकर्षण की विशेष उन्मादक स्थिति में आने पर वह सोचती है : "दोनों में से अधिक रूपवान कौन है ? कन्हैयालाल ही मुझे जंचते हैं। किशोरी मोहन भी देखने में सुन्दर हैं, इसमें संदेह नहीं। पर डा० कन्हैयालाल के मुख का-सा तेज उनमें कहां पाया जाता है। किशोरी मोहन मेरे भक्त हैं, ऐसे भक्तों की मुझे आवश्यकता है। पर डाक्टर साहब को ही में अपना हृदय समर्पित करूंगी।"[1] प्रारम्भिक अवस्था का यह उन्माद अधिक साहचर्य प्राप्त करने पर एक ऐसी स्थिति ला देता है कि लज्जा डाक्टर साहब की अनुपस्थिति में सुखद वातावरण अनुभव ही नहीं करती। मानसिक स्थिति इन वाक्यों से स्पष्ट होती है : "उनके सामने मेरा हृदय उद्दीप्त होकर उमंग से भर जाता था, पर उनके चले जाने पर मुझे ऐसा जान पड़ता है जैसे सारा शून्य अपना विकराल मुंह खोलकर मुझे निगलने को तैयार है और एक भयंकर अवसाद के बोझ से मेरी छाती दब जाती थी।"[2] इस प्रकार के यौन भावना संबंधी कतिपय दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। यह पक्ष लज्जा का विशेष महत्वपूर्ण है।

---

१. श्री इलाचन्द्र जोशी: लज्जा, पृ. २१.

२. लज्जा, पृ० ६३.

माधवी दीदी क घर जाना एवं उस वैभवपूर्ण महत्व का कुछ समय के लिए अपने प्रियतम डाक्टर कन्हैयालाल के साथ त्याग करना उसे चिंतित करता है। वह विशेष दुखी होती है। कल्पना के उस संस्कार को वह त्यागना नहीं चाहती जिसमें डा० कन्हैयालाल के सामीप्य में वह सोचती है "अगर मेरा जन्म यूरोप या अमेरिका में होता तो क्या वहाँ मेरा भाई कभी मेरे स्वच्छन्द प्रेम में बाधा पहुंचाता ?[१] राजू की मृत्यु के बाद लज्जा का पूरा व्यवहार बदल जाता है। वह अपने किए हुये कार्यों के प्रति आत्म-विगर्हणा के भाव से भर जाती है और बार-बार प्रायश्चित करती है।

उपन्यास में राजू का चरित्र लज्जा के चरित्र के विलोम में आया है। राजू सात्विक प्रवृत्तियों का पुतला मात्र ही नहीं है, उसका हृदय पक्ष भी विशेष महत्वपूर्ण है। वह अपनी बहिन से स्नेह रखता है, परन्तु उससे वही स्नेह न पाने पर दुखित होता है। साथ ही अपने अधिकार का उचित भाग चाहता है, पर निराशा की स्थिति में लज्जा द्वारा संपन्न किए आत्मसमर्पण जैसे कार्यों से उसे विशेष आघात पहुंचता है। सम्पूर्ण उपन्यास में क्रिया व्यापार के रूप में राजू का कोई विशेष कार्य नहीं दिखता है। उसका पूर्ण चरित्र उसकी डायरी से प्रदर्शित होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् वह डायरी लज्जा के हाथ में पड़ती है और उसी समय वह अपने भाई की विशेषताओं से परिचित होती है। राजू की दार्शनिकता इन शब्दों में उसके अव्यक्त प्रेम का स्पष्टीकरण करती है : "प्रेम को लेकर ही मैंने जन्म धारण किया था और प्रेम को लेकर ही जीवन बिताने का मेरा संकल्प था। ·····अपने उत्कट प्रेम की प्रलयाग्नि को किसी के आगे व्यक्त न कर उसे अपनी ही राख से ढकना होगा।"[२] संसार का स्त्री समाज उसे

१. लज्जा, पृ० ९९.
२. लज्जा, पृ० १५२.

एक वैचित्र्यहीन धंधा जान पड़ता है। वह माधवी दीदी से विशेष प्रभावित है। चरित्र की दृढ़ता, आत्मसंयम, सहनशीलता एवं धैर्य उसे उनके चरणों में श्रद्धाजंलि अर्पित करने को भी प्रेरित करते हैं। डा० कन्हैयालाल से वह अप्रिय अनुभूति पाता है। ऐसे लोलुप, लंपट, पाखंडी एवं निश्चयहीन व्यक्ति के प्रति उसका शत्रुभाव भी जागृत होता है। इस प्रकार के विचित्र अनुभवों का मर्मघाती प्रभाव यह पड़ता है कि वह लज्जा को डाक्टर साहब की गोद में सन्ध्या समय देखकर विशेष पीड़ित होता है और अपनी डायरी के अन्तिम पृष्ठों में लिखता है - "जिस मनुष्य को बाइस वर्ष की ही अवस्था में सौ वर्ष के जीवन का अनुभव हो चुका हो, वह क्यों कर जिए।"[१] वह इन दृश्यों की तीव्रता की अपेक्षा अपने हृदय को शून्य किए बैठा था। जिस नारी की आकांक्षा में वह जीवन में प्रगतिशील था, वह (माधवी दीदी के समान) उसे मिलना दुर्लभ थी। अतएव वह अपना जीवन ही समाप्त करने की सोचता है। अपनी बहिन से वह घनिष्ठता बढ़ाने का पुनः प्रयास भी करता है पर निष्फल रहता है।

डा० कन्हैयालाल एवं काका आदि अन्य चरित्र प्रसंगवश उपन्यास में आए हैं। उनका अपना कार्य व्यापार कुछ नहीं है। वे केवल राजू अथवा लज्जा के चरित्र की कतिपय विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से जोशी जी ने विशेषतः लज्जा और राजू के मानसिक भावों का अङ्कन विशेष रूप से किया है। उन विशेष भावों का प्रभाव परिस्थिति-जन्य है। इन परिस्थितियों के निर्माण में उपन्यासकार ने सफलता पाई है।

मनोवैज्ञानिक आशय : धनी परिवार के उत्तराधिकारियों में लज्जा और राजू प्रमुख हैं। बाल्यकाल से स्वस्थ जीवन व्यतीत करने वाले ये दोनों पात्र अपने पूर्व मध्यकाल में ही विभिन्न यातनाओं से युक्त हो

१. लज्जा, पृ० १६३.

जाते हैं। इसका कारण लज्जा द्वारा सम्पन्न नैतिक और अनैतिक कार्य हैं। बाल्यकाल में इनकी स्वस्थता का कारण 'फ्रायड' के अनुसार स्वरति और पर रति की समतोल व्यवस्था है। लज्जा का विछोह राजू एवं उसकी स्वयं की स्थिति पर विशेष प्रकाश डालता है। विछोह से राजू की अपेक्षा लज्जा की स्वरति का अधिक ह्रास होता है और उसके स्थान में पररति अपना स्थान लेती है। दोनों पररति के आलम्बन के रूप में एक दूसरे को चुनते हैं। यह पररति भाई-बहिन के स्नेह के रूप में पल्लवित होती है। इस समय दोनों स्वस्थ दिखते हैं और विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति भी करते हैं।

पुनः एक ऐसी स्थिति आती है, जब दोनों इस पररति से संतोष ग्रहण नहीं कर पाते और स्वरति की ओर अग्रसर होते हैं। स्वरति का विशेष प्रभाव लज्जा में लड़कियों और प्रोफेसरों को अपने रूप से छकाने वाली प्रवृति में दृष्टिगत होता है। साथ ही पररति का आलम्बन भी बदलता है। राजू का स्थान डा० कन्हैयालाल लेता है और लज्जा का स्थान माधवी दीदी। इस प्रकार लज्जा डा० कन्हैयालाल की ओर भक्तिभावना से पूर्ण दिखती है और राजू माधवी दीदी से प्रभावित। पररति के आलम्बन के परिवर्तन में प्रमुख कारण समाज की कामेच्छाओं को तृप्त न होने देने की व्यवस्था है। दोनों पात्रों में वह भिन्न रूप से आती है।

लज्जा और राजू का बाल्यकाल किसी मनोवैज्ञानिक समस्या को नहीं उठाता परन्तु बाल्यकाल और यौवन की संधिकालीन-वय फ्रायड की दमित यौन भावना के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। राजू में उसका उदात्तीकृत रूप अल्प सीमा तक मिलता है। लज्जा में यह भावना विचित्र रूप से घर करती है कि यदि वह किसी अन्य देश में जन्मी होती तो उसे अपने भाई के प्रति प्रत्येक पल सजग न होना पड़ता। काम वासना का चरम रूप उसके समर्पण में प्रत्यक्ष है।

राजू की पररति प्रथम लज्जा से प्रारम्भ होती है। पर बचपन के समान वह पावन प्रेम न पाने पर वह माधवी दीदी की ओर उन उदात्त प्रवृत्तियों सहित प्रस्तुत होता है जिनका प्रसार मानवता के लिए आवश्यक है। डाक्टर साहब से उनकी शत्रुता तीन कारणों से हैं: १. नैतिक, २. सामाजिक, ३. मनोवैज्ञानिक। नैतिक दृष्टि से डाक्टर साहब की मनोवृत्ति लज्जा से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध रखने में स्पष्ट प्रतीत होती है, पर राजू जैसे भाई के होते हुए यह असम्भव सा प्रतीत होता है। इस कारण डाक्टर साहब प्रायः दूसरे प्रकार का व्यवहार अपनाते हैं, जिसमें उन्हें सफलता भी मिलती है। सामाजिक दृष्टिकोण से राजू लज्जा का भाई है। भाई-बहिन का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है और इस सम्बन्ध के विच्छेद में डाक्टर साहब का पूर्ण हाथ है। यह समाज की दृष्टि से भी उचित नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने के लिए फ्रायड के सिद्धान्त का अवलम्बन आवश्यक है। फ्रायड के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पररति के आलम्बन रूप में विरुद्ध लिंग के व्यक्ति को चुनता है। राजू की पररति प्राथमिक अवस्था में लज्जा के प्रति है और उसी समय वह बाधक के रूप में डाक्टर साहब को पाता है। डाक्टर साहब के कारण लज्जा का प्रेम उसकी ओर से हट जाता है। दोनों आश्रयों में प्रतियोगिता होती है। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप वहां शत्रुभाव उत्पन्न होता है। राजू का डाक्टर साहब से विद्वेष ही इस भाव का परिपुष्ट प्रमाण है। इसी भाव से क्लेशित होकर वह अन्त में मरण का वरण करता है। वह लिखता है: "अपनी वैयक्तिक आत्मा के अनन्त रहस्य की उलझन से ही मुझे छुटकारा नहीं मिलता। एक बिंदु आत्मा के भीतर अज्ञात अतृप्त आकांक्षाओं की कैसी-कैसी भयंकर लहरें प्रबल वेग से प्रवाहित होती हुई, क्षुब्ध गर्जन से उद्दाम क्रीड़ा करती जाती हैं। प्रकृति की यह कैसी आश्चर्यमयी लीला है। घृणा, प्रेम,

आनन्द, विषाद, प्रतिहिंसा, करुणा, धैर्य और उत्तेजना का संघर्ष प्रति-क्षण कैसी विचित्रता के साथ मनुष्य के भीतर चला करता है। इन सब विकारों से मुक्त होने के लिये मैं दिन-रात छटपटाया करता हूं। ·····मेरी आत्मा की सारी स्वतन्त्रता पल भर में नष्ट हो जाती है और मैं अपनी आन्तरिक आकांक्षाओं और विकारों का क्रीतदास बन जाता हूं।"[१] यह भावना उसे निराशा से आकण्ठ मग्न करती है। निराशा का आधिक्य उसे प्रत्येक प्रयत्न में असंतुलित बनाता है।

फ्रायड का कथन है कि स्वरति के ह्रास पर ही पररति का विकास होता है। इसके विरुद्ध भी प्रक्रिया होती है। राजू में लज्जा की पररति से परावर्तित होने की क्रिया में कुछ मानसिक ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं। इन ग्रंथियों का समुचित उपचार माधवी दीदी को पररति के आलम्बन बनाने में नहीं हो पाता और वह "पर" विशेष से हटकर "स्व" पर केन्द्रित ही रहता है। यहीं निराशा का आधिक्य हम उसमें देखते हैं। जीव में दो वृत्तियां जन्म-जात हैं। Eros जीवनवृत्ति और Thanatos मरणवृत्ति। इन दोनों वृत्तियों का सम्बन्ध "पर" और "स्व" से है। "स्व" के ह्रास होने पर व्यक्ति पूर्ण सामाजिक होता है और मरणवृत्ति का रूप मारने की वृत्ति लेती है परन्तु "पर" का ह्रास होने पर, मरणवृत्ति सबल हो जाती है और व्यक्ति असहाय होकर आत्महत्या कर डालता है। लज्जा की अप्राप्य परात्मक रति ही राजू की हत्या का करण बनती है।

लज्जा पर भी विशेष प्रभाव उस समय परिलक्षित होता है जब वह डाक्टर साहब की धृष्टता एवं स्वभाव से परिचित हो जाती है। वह डाक्टर साहब की प्रत्येक आदत एवं विचार का स्मरण करती है और परावर्तन (Retardation) की स्थिति में ही अपना सम्बन्ध

१. श्री इलाचन्द्र जोशी : लज्जा, पृ० १५१.

डाक्टर साहब से विच्छेद करती है। पर राजू से उसे अधिकाधिक कचोट अपने हृदय की सहनी पड़ती है।

इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में कुछ और भी तथ्य दृष्टव्य हैं। लज्जा और राजू दोनों ही किशोरावस्था से तरुणाई की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्थिति व्यक्ति के लिये बहुत संकटपूर्ण होती है। उसके मन में अचानक कुछ नई भावनाओं का प्रबल उद्रेक होता है। प्रौढ़ता के संतुलन की तुलना में यह संकुल प्रभाव की स्थिति होती है। अहं के तीव्र उद्रेक के साथ व्यक्ति एक ओर तो अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए आतुर होता है और दूसरी ओर दूसरों पर अपने वैशिष्ट्य की छाप अंकित करने के लिए बहुधा इस समय का जीवन अत्याधिक अन्तर्मुखी भी हो जाया करता है। लज्जा को हम निरन्तर तरुणाई के रंगीन दिवास्वप्नों में डूबते पाते हैं। इन स्वप्नों का चित्रण जोशी जी ने किशोर-वय और मनोविज्ञान की धारणाओं के अनुकूल ही किया है। भाव प्रेरित होने के कारण ये स्वप्न काव्य का-सा प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं। इनके द्वारा लज्जा का विकास एक ऐसी नारी के रूप में होता है जिसमें वासना उद्दाम है, किन्तु उसे सम्भालने की शक्ति नहीं है। इसका स्वाभाविक परिणाम परिवार की दुःखान्त परिणति के रूप में होता है। यह परिणति और राजू की डायरी, जब लज्जा की चेतना को प्रबुद्ध करती है; तब वह उतने ही उद्दाम वेग से आत्मविगर्हणा में बह चलती है। यह भी उसके चरित्र के अनुकूल ही है।

राजू आदर्शों की ओर तरुणाई की भावुकनिष्ठा के साथ उन्मुख होता है। अपने प्रेम विषय के रूप में लज्जा को खोकर वह गहरे असंतोष से युक्त हो जाता है। लज्जा के प्यार को पुनः प्राप्त करने के लिए वह अनेक युक्तियां काम में लाता है और उसके समक्ष आत्म-हत्या ही अंतिम युक्ति होती है जिसके द्वारा लज्जा को वह जीत तो लेता है किन्तु स्वयं मिट जाता है।

जोशी जी ने अपने परवर्ती उपन्यासों में अनेक मनोवैज्ञानिक युक्तियों का भी उपयोग किया है। ऐसा एक उदाहरण लज्जा में भी उलेखनीय है। लज्जा, जब डाक्टर कन्हैयालाल पर आसक्त होती है तब वह रुग्ण होजाती है, यह रुग्णता शारीरिक नहीं, किन्तु मानस प्रेरित है। उसके द्वारा वह वास्तव में डाक्टर के साथ निरंतर सामीप्य के लक्ष्य का साधन करती है, और इसमें सफल भी होती है। इस प्रकार उसकी रुग्णता केवल एक युक्ति है; जिसके द्वारा वह अपने मूल-मनोभाव को दूसरों से गोपनीय रखकर एक दूसरे ही छद्मवेश में अबाध रूप से पूर्ण करती है।

सन्यासी

कथानक :

द्वितीय उपन्यास 'सन्यासी' में जोशी जी एक बनारस विश्वविद्यालय के छात्र श्री नन्द-किशोर वाजपेयी को नायक बनाकर कथा को अग्रसर करते हैं। नन्द किशोर छात्रावास में विभिन्न मित्रों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित कर लेता है। शिमले से उसका भाई अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताएं पूर्ण कर देता है। अपने मित्रों के साथ वह आगरा की भी सैर करता है; परन्तु जयन्ती मे केवल क्षणिक परिचय ही प्राप्त कर पाता है। बनारस लौटने पर नन्दकिशोर का सम्बध आर्य समाजी भद्र महिला (शान्ति) से स्थापित होता है। शान्ति से सम्बन्ध स्थापित करने में उसके मित्र उमापति का विशेष हाथ रहता है। सम्बन्ध की दृढता नन्दकिशोर को उन्मुक्त जीवन की ओर अग्रसर करती है और वह विद्यार्थी जीवन के कठोर नियमपाश से मुक्त होकर इलाहाबाद की सैर के लिए शान्ति के साथ भाग निकलता है।

इलाहाबाद में उसके नये जीवन का प्रारम्भ अवश्य होता है; परन्तु बलदेव की उपस्थिति लगातार अनेक दिनों तक एक विचित्र वातावरण उत्पन्न करती है। बलदेव गांधीवादी विचारधारा के विपरीत स्वभाव

से पूर्ण है। शान्ति उसे अहिंसा का उज्जवल संदेश देती है और स्वाभाविक विकास की ओर अग्रसर करती है। शान्ति और बलदेव का सम्बन्ध यद्यपि भाई बहिन का रहता है; परन्तु नन्दकिशोर का शंकालु स्वभाव उसके चरित्र में दोष देखता है। इस समय इलाहाबाद का जीवन यद्यपि आनन्द से व्यतीत हो रहा था, परन्तु अर्थ की कमी एक दिन नन्दकिशोर को बाध्य करती है कि वह अपने बड़े भाई को तार देकर रुपये मंगाये। इसी प्रेरणा से वह अर्थ सम्बन्धी सहायता मंगा बैठता है और उसका पता पाते ही अचानक उसके बड़े भाई आ जाते हैं। वे नन्दकिशोर की भलाई के लिए शान्ति को अर्थ-सम्बन्धी लालच आदि से उससे विलग करते हैं।

नन्दकिशोर शान्ति के विछोह से अधिक पीड़ित होता है; परन्तु कुछ दिन अस्वस्थ रहने पर प्रकृतिस्थ हो जाता है। इसी समय जयन्ती से उसका विवाह होता है। युगल दम्पति गांव में निवास करना प्रारम्भ कर देते हैं। उनमें कुछ आपसी तनाव उत्पन्न होते हैं। जयन्ती से शान्ति के प्रणय की बात कहकर नन्दकिशोर उसकी प्रतिक्रिया देखना चाहता है। जयन्ती का सम्बन्ध अस्पष्ट रूप से कैलाश (नन्दकिशोर का मित्र) से रहता है, यह ज्ञात होने पर नन्दकिशोर और जयन्ती के मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाते हैं। इसी बीच जयन्ती आग लगाकर अपनी आत्महत्या कर लेती है। जयन्ती की मृत्यु के पश्चात् नन्दकिशोर को ज्ञात होता है कि वह शान्ति के विचारों एवं कार्यों से प्रभावित रही है और मृत्यु के पूर्व लिखे पत्र द्वारा उसे प्रणाम भी करती है।

नन्दकिशोर पर्यटन हेतु निकलता है। लखनऊ में उसकी भेंट बलदेव से होती है। शान्ति के चरित्र सम्बन्धी स्पष्टता बलदेव के विचारों से मिलती है। बलदेव के बताए हुए पते पर पहुँच कर वह शान्ति से मिलने का प्रयास करता है; परन्तु शान्ति लल्लन को छोड़ देती है। वह एक पत्र अप्रत्यक्ष विधि से नन्दकिशोर को सौंप कर अज्ञात

स्थान में चली जाती है। नन्दकिशोर लल्लन को उसकी संरक्षिका के पास छोड़कर सन्यासी बन जाता है। यह संपूर्ण कथा नन्दकिशोर की पलायनवादी एवं रोमान्टिक भावनाओं से बीच-बीच में ओतप्रोत है।

पात्र :

लज्जा के विपरीत नन्दकिशोर के चरित्र का गठन हुआ है। लज्जा कामवासना से अधिक पीड़ित है तो नन्दकिशोर अपने अहं के द्वारा। उसका अहं उसमें मानवीय गुण जैसे दया, नम्रता, प्रेम आदि का संचार नहीं होने देता है। अहं से परिचालित होने के कारण, उसमें विफलता से उत्पन्न जलन, सन्देह से उद्भूत ईर्ष्या आदि प्रमुख रूप में हैं। मनोरथों की सृष्टि में, वह स्वप्नमयी दुनिया से सुख का आकांक्षी है; परन्तु उसके उपर्युक्त गुण उसे सफल जीवन व्यतीत करने में बाधा देते हैं। सर्व प्रथम वह शान्ति के प्रणय में आबद्ध होता है और पतिपत्नी के रूप में अपना जीवनयापन इलाहाबाद में करता है। बीच बीच में कतिपय झंझटें भी आती हैं, परन्तु वह शान्ति का अन्त तक साथ देता है। बड़े भाई के कहने पर शान्ति का जाना उसके सन्देह की पुष्टि करता है। और वह विचारों को बदलने का प्रयास भी करता है; परन्तु अस्वस्थ हो जाता है। उसकी अस्वस्थता उसके प्रेम की द्योतक है; परन्तु अहं का प्रभुत्व उसके बाह्य व्यवहार का प्रतीक है। जयन्ती से प्रथम-दर्शन में, वह जो अपेक्षा करता था, वह उसे मिला नहीं और विवाह के पश्चात इसी कारण वह उसके अहं पर ठोकर लगाने का प्रयास करता है और सफल भी होता है।

नन्दकिशोर का प्रेम दो स्थलों पर दो पात्रियों से प्रतीत होता है; परन्तु वह वास्तविक प्रेम से बहुत दूर है। प्रेम "दो व्यक्तियों, दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है, किन्तु नन्दकिशोर दूसरी आत्मा, दूसरे व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रहने देता, उसे मानता ही

नहीं।"[१] इस प्रकार नन्दकिशोर प्रेम के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है। जीवन में सक्रियता क्या है ? इसका कोई परिचय नन्दकिशोर में नहीं मिलता। इलाचन्द्र जोशी जी ने नन्दकिशोर की तुलना शरत्चन्द्र के देवदास से की है और उनमें अन्तर स्पष्ट किया है, कि देवदास समाज के डर से पार्वती से विवाह नहीं करता और उसके विरह में शराब पीता रहता है पर "नन्दकिशोर समाज की परवाह न कर उपन्यास की नायिका शान्ति से कुछ ऊपरी कारणों से बीच बीच में झगड़ते रहने पर भी बराबर उसका साथ देता रहा है और कभी उसने जानकर भी उसे त्यागने का विचार नहीं किया।"[२] यह सब नायक के चरित्र पर विशेष प्रकाश नहीं डालते।

इस प्रकार की दृढ़ता से युक्त होकर भी नन्दकिशोर अन्ततः एक उत्तरदायित्व हीन व्यक्ति है जिसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। अहं से परिचालित व्यक्ति होने के कारण वह अपनी सत्ता को प्रत्येक स्थल पर जमाना चाहता है, पर अति करने पर वह उसका निराशामूलक परिणाम भी भोगता है और उसकी काली छाया उन पर भी पड़ती है, जो उसके सम्पर्क में आते हैं।

बलदेव के चरित्र में गांधीवादी धारा के विरोधी तत्वों का समावेश है। वह परिस्थितियों से संघर्ष करते करते शिथिल हो गया है। अध्ययन भी छोड़ बैठता है; परन्तु उसे उनसे छुटकारा नहीं मिल पाता है। शान्ति को पावन शान्तिमयी मूर्ति के रूप में वह पूजता है। नन्दकिशोर के संदेह करने पर, वह शांति को उचित मार्ग दर्शन भी करता है। बलदेव का कार्य केवल कथा सूत्र को विकसित करना है।

शान्ति और जयन्ती के चरित्र भी विशेष रूप से उद्घाटित नहीं किये गए हैं। शान्ति के चरित्र में सौम्यता, नम्रता और परिस्थितियों

---

१. श्री अनन्त चतुर्वेदी, आलोचना अंक. १८.
२. श्री इलाचन्द्र जोशी : "विश्लेषण"

के अनुकूल सक्रिय होने की क्षमता अवश्य प्राप्त होती है। नन्दकिशोर के उन्नत जीवन एवं सम्मान के लिए वह बहुत बड़ा त्याग करती है। जीवन की लम्बी अवधि व्यतीत होने पर भी, वह नन्दकिशोर के रूप में उसकी प्रतिमूर्ति लल्लन को इतनी अधिक वत्सलता का व्यवहार नहीं देती कि वह उस पाश में बद्ध हो जावे। उसकी एक मात्र आशा पूर्ण होने पर, (कि नन्दकिशोर जीवन के किसी अंश में उससे अवश्य मिलेगा) वह अपने अज्ञात निवास की सूचना पत्र द्वारा देती है। शान्ति का चरित्र "लज्जा" की माधवी दीदी के ही समान धैर्य धारण करने वाला है। अन्य नारी चरित्रों में जयन्ती की सक्रियता विशेष रूप से उभर कर नहीं आई है। वह केवल नन्दकिशोर की अहं प्रेरित हिंसा भावना का आश्रय बनती है और इस प्रकार नन्दकिशोर के वास्तविक व्यक्तित्व के उद्घाटन का उपकरण प्रतीत होती है।

पुरुष पात्रों में कतिपय मित्रों का नाम बार बार आता है। जैसे उमापति, रमाशंकर त्रिपाठी और कैलाश आदि। ये चरित्र वातावरण की एकसूत्रता और कथा की प्रगति में सहायक होते हैं, परन्तु इतने पर भी कथानक की शिथिलता अधिकांश स्थलों पर लक्षित होती है, जिसका कारण संभवतः यह है कि लेखक ने नन्दकिशोर के चरित्रांकन को इस कृति में अपना मूल उद्देश्य माना है और अन्य तत्वों को उसका उपस्थानीय बना दिया है।

मनोवैज्ञानिक आशय :

नन्दकिशोर का चरित्र एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतीक है। उसके चरित्र के समस्त विकास और परिणति को अंकन करके इलाचन्द्र जोशी एक मनोवैज्ञानिक नियम को भी स्वरूप प्रदान करते हैं। नन्दकिशोर पूर्णतः अपने अहं में निष्ठित व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति समाज और जगत की अन्य मान्यताओं और नियमों का कोई मूल्य नहीं करता। उसकी समस्त मान्याताएं, इस अहं की सापेक्षिता में ही

संभव हैं। वह नैतिक अथवा अनैतिक न होकर नीति शून्य होता है क्योंकि उसके अहं की सत्ता के समक्ष व्यक्ति, नीति, आदर्श इत्यादि समस्त अपना कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं रखते। प्रत्येक वस्तु का अर्थ अन्ततः अहं के प्रयोजन के आधार पर निरूपित होता है; इसीलिए उसमें वास्तविक प्रम की क्षमता नहीं है इसीलिए वह प्रिय को मिटा देता है, इसीलिए स्त्री को वह उपभोग्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता।

ऐसी अहं वृत्ति चोट खाकर और फूलती है। उसकी स्वाभाविक परिणति विस्फोटमय होती, जिसका निदर्शन जोशी जी ने इस उपन्यास में किया है और जो उनके आगामी उपन्यासों में एक मुख्य मंतव्य बना हुआ है। इस प्रकार अपना ही सर्वनाश करने वाला अहं प्रेरित व्यक्ति दूसरों के भी विनाश का कारण बनता है। सामाजिक हित दूसरों के प्रति सहानुभूति जैसी कोई बात उसके लिए शक्य नहीं है। उससे वही अपनी रक्षा कर सकता है जिसने उसके आंतरिक व्यक्तित्व को पहचान लिया है और इस प्रकार जो उसके बाह्य स्वरूप से छला नहीं जाता। जयन्ती उसे नहीं पहचान पाती और मिट जाती है। शांति उसे पहचानती है और इसलिए उससे दूर हो जाती है।

नंदकिशोर की अहंवृत्ति का उत्तम निरूपण, जयन्ती के साथ, उस के संबन्ध को लेकर हुआ है। जयन्ती के प्रथम साक्षात में उसके अहं के आहत होने का अवसर आ जाता है और रात्रि में वह सोचता है: "जिस किशोरी में इतनी श्री, इतना सौष्ठव, ऐसा सौन्दर्य, ऐसा संकोच, ऐसी विनम्रता, ऐसा सुघड़पन वर्तमान हो, उसमें बिच्छू की तरह ऐसा जबरदस्त डंक मारने की भी शक्ति छिपी रह सकती है, यह बात मेरी कल्पना के अतीत थी।" अपमान की वेदना से वह जल उठता है और प्रतिहिंसा की भावना उसके अंतस को मथने लगती है। विवाह उसे इसका अवसर देता है। इस दम्पत्ति के विलक्षण पारस्परिक

१. सन्यासी।

प्रेम के सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय लिखते हैं [१] "न जाने क्या बात है कि कोई साधारण सी बात होती है इसका अर्थ वे दूसरे ही प्रकार से लगाते हैं। नन्दकिशोर कहता है, जयन्ती आज तुम अति सुन्दर मालूम पड़ती हो, जयन्ती न जाने किस कल्पना के संसार में पहुंच जाती है और मुंह फुलाकर कहती है "तो इसका अर्थ यह कि मैं सदा आज तक आपको असुन्दर प्रतीत होती रही हूं.. .....।" विवाह ने तो एक सूत्र में बांध दिया; किन्तु उनकी आत्माओं में कहीं समीकरण नहीं। पास रहकर भी वे एक दूसरे से दूर हैं.....बहुत दूर...केवल एक परिणति संभव है और वह है नन्दकिशोर के प्रतिशोध की परिपूर्ति। यही होता भी है। आत्म विश्लेषण को करके स्वयं नन्दकिशोर सोचता है: "मेरे मनोभावों की विकृति इस विचित्रता पर गौर कीजिए कि जयन्ती से मैं विवाह इसलिए नहीं करने जा रहा था कि मैं अपने **एकांगी** जीवन की अपूर्णता को **पूर्ण** करूं बल्कि इसलिए कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव में एक शांत और संयत दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था, उसे अकारण ही चूर चूर करने की एक प्रतिहिंसा पूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।"[१] जोशी जी यही बतलाना चाहते हैं कि यह दुःखान्त परिणति किसी बाह्य तत्व के कारण नहीं किन्तु आंतरिक चरित्र की अनिवार्यता से प्रभावित होती है। विवाह जैसे सामाजिक संबंधों को हम एक विशेष रूप में देने के अभ्यस्त होते हैं; किन्तु उनका वास्तविक आशय सामाजिक मान्यताओं को चीरते हुए चरित्र की आंतरिक प्रेरणाओं से निरूपित होता है।

अहंकारी के लिए भी अनात्म की आवश्यकता होती है, जिसे निरंतर खंडित करके ही वह अपने अहं का पोषण कर सकता है; किन्तु सबको मिटा देने के पश्चात् अथवा दूसरों के द्वारा पहचान लिए

---

१. डा० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ.२४५

जाने के पश्चात् वह एकाकी रह जाता है। एक अग्निमय प्रेरणा, जो अब भस्म करने योग्य सामग्री से वंचित है, इसीलिए परित्यक्त नन्द-किशोर सन्यासी हो जाता है, किसी उदात्त प्रेरणा से नहीं, प्रायश्चित के कारण नहीं ; किन्तु केवल इसलिए कि अब समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। जोशी जी यह प्रदर्शित करते हैं कि जो भयंकर असामाजिक प्राणी एक सर्वग्रासी दैत्य बनकर निकला था उसे समाज ने अंततः अपने ही अहं में भस्म होने के लिए अकेला छोड़ दिया।

एक आवश्यक आकलन : आधारभूत पात्र.

यह उल्लेखनीय है कि सन्यासी में वे चारों प्रकार के पात्र आ जाते हैं, जिन्हें जोशी जी की पात्र व्यवस्था का मूलरूप कह सकते हैं और जो किंचित् साधन परिवर्तनों के साथ बारम्बार, उनकी कृतियों में अवतरित होते हैं। ये पात्र क्रमशः नन्द किशोर, बलदेव, शांति और जयन्ती हैं। नन्द किशोर और जयन्ती अहं प्रधान व्यक्ति हैं। इसके विपरीत बलदेव और शांति सामाजिक भावना से युक्त संतुलित व्यक्ति। इनमें भी शांति अधिक ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उसके ही प्रतिरूपों द्वारा जोशी जी ने प्रताड़ित नारी के मांगलिक विकास का दिग्दर्शन किया है। उनके आदर्श को स्वरूप देने में सबसे अधिक भाग इस कोटि की नायिकाओं ने ही लिया है।

पर्दे की रानी

जोशी जी की तृतीय कृति "पर्दे की रानी" पूर्ववर्त्ती दोनों उपन्यासों का विकास प्रतीत होती है। समस्याएं भी वही हैं; पर अपने परिनिष्ठित रूप में। प्रथम उपन्यास में नायिका का वर्णन विशेष रहा। साथ ही द्वितीय उपन्यास में नायक को महत्ता दी, परन्तु इस उपन्यास में नायक और नायिका दोनों की ओर से क्रांतिकारी प्रयत्नों की योजना मिलती है।

कथानक :

"पर्दे की रानी" श्यामा नाम की वेश्या मां की पुत्री है, जिसका सम्बन्ध कुंवरसत्येन्द्र सिंह से वेश्यावृत्ति को छोड़ने के निमित्त होता है। परन्तु; कुंवर सत्येन्द्र सिंह किसी राजनीतिक षड्यंत्र में अंडमान भेज दिये जाते हैं। श्यामा का सम्बन्ध ओमप्रकाश वर्मा से होता है। परन्तु कुंवर साहब के लौटने तक वह स्थिति बदल जाती है; तिस पर भी उनके आते ही श्यामा उन्हें पूर्व रूप से ग्रहण करने का प्रयास करती है। इसी समय उसकी हत्या हो जाती है। निरंजना श्यामा की लड़की है। वेश्या के संस्कार और खूनी पिता का प्रेम उसे समाज में रहने नहीं देता है। निरंजना के संरक्षक मनमोहन सिंह बनते हैं, जिन का निजी मंतव्य भी उससे वेश्यावृत्ति कराने का है। प्रथम वह उसे सुशिक्षित बनाना चाहते हैं; इसलिए विद्यालय भेजते हैं। वह राज-महलों के आनंदों का सुखभोग एक राजकुमारी की तरह करती है। विभिन्न विषय शिक्षा के लिए उपयुक्त शिक्षक भी रख दिया जाता है। मनमोहन सिंह का लड़का इन्द्रमोहन भी इसी समय विलायत से शिक्षा प्राप्त कर लौटता है।

इन्द्रमोहन निरंजना के रूप का लाभ उठाना चाहता है; परन्तु वह असमर्थ रहता है। निरंजना उसके चंगुल से भाग कर 'चन्द्रशेखर' (शिक्षक) के साथ घर वापस आ जाती है। जिसकी प्रतिक्रिया इन्द्र मोहन के उसके घर आने पर होती है। इन्द्रमोहन चन्द्रशेखर को गोली मारता है; परन्तु उसकी क्षमा भी पा जाता है। इसके पश्चात् निरंजना कालेज में "होस्टल लाइफ" व्यतीत करती है। यहीं उसके विशेष सुसज्जित पर्दों में रहने के कारण उसका पर्दे की रानी नामकरण होता है। होस्टल में उसका विशेष संपर्क शीला से होता है। शीला को वह पुरुष, नारी, एवं जीवन सम्बन्धी विचारों से अवगत कराती है। अध्ययन समाप्त होने पर दोनों एक दूसरे से अलग हो जाती हैं। निरंजना

की सहेली शीला का विवाह इन्द्रमोहन के साथ होता है। यह विवाह भी इसी उद्देश्य से किया जाता है कि निरंजना इन्द्र मोहन को लोलुप, कामी न समझकर एक संतुलित पुरुष समझे। मसूरी में शीला और निरंजना अपने अध्ययन के दो वर्ष बाद मिलती हैं। शीला के विवाह की सूचना और उसके पति के दर्शन से वह (निरंजना) भौंचक्की हो जाती है। इन्द्रमोहन का परिवर्तित रूप पाकर वह उससे संपर्क बढ़ाना प्रारम्भ करती है। इस प्रक्रिया में अनजान में उसके मुंह से निकल जाता है कि जब तक शीला जीवित है; तब तक वह इन्द्रमोहन का साथ नहीं दे सकती। इन्द्रमोहन, तब नियमित रूप से संखिया प्रयोग द्वारा शीला को समाप्त कर देता है। कुछ काल बाद वह निरंजना के पास एक विशेष प्रार्थना के साथ पहुंचता है जिसमें उसके जीवन की सुरक्षा निहित है। वह यहां से निरंजना के साथ सुखमय जीवन बिताने को भागना चाहता है। भारतवर्ष से नैपाल की ओर भागने वाले प्रयत्न में वह निरंजना का कौमार्य खंडित करता है। यहाँ वास्तविकता से परिचित होने पर निरंजना उसे धिक्कारती है, परिणाम स्वरूप वह अचानक गाड़ी के रुकने से तथा सामने से दूसरी पटरी पर आने वाली सवारी गाड़ी से, आत्म हत्या करता है।

पात्र :—

उपन्यास की कथा का वर्णन चार भागों में हुआ है और प्रत्येक पात्र अपनी कथा को संक्षेप में सुनाता है। इस प्रकार दो अहं से ग्रस्त चरित्रों का संघर्ष इस उपन्यास में है। अन्य दो पात्र शीला और चन्द्रशेखर केवल इन नायक नायिकाओं के चरित्र प्रकाशन में सहायक हैं। संपूर्ण उपन्यास में चार पात्रों का विशेष महत्व है। निरंजना, शीला, चंद्रशेखर और इन्द्रमोहन। अपूर्व सौन्दर्ययुक्त निरंजना कालिज की लड़कियों में विचित्र है। शीला से उसकी विशेष मित्रता है। शीला और निरंजना एक दूसरे से प्रभावित भी हैं। निरंजना के चरित्र में

हीनता का भाव विशेष स्थान पा गया है। यह हीनता ग्रंथि उसके जीवन में उसके संरक्षक, मनमोहनसिंह के कारण उस समय उत्पन्न हुई, जब वह उसके (निरंजना के) प्रति निर्लज्ज व्यवहार प्रारम्भ कर देते हैं। उनका लड़का इन्द्रमोहन भी अपने कामी एवं लोलुप व्यवहारों से, उसे विशेष आघात पहुंचाता है।

मनमोहनसिंह की अतृप्ति की क्रोधाग्नि यह रहस्य खोल देती है कि निरंजना की माँ वेश्या थी और उसका पिता खूनी। इस आघात का प्रतिकार वह शीला और इन्द्रमोहन से (माता और पिता के प्रतीक में) करती है। शीला से उसका स्नेह मां के समान रहता है साथ ही प्रतिशोध भी प्रचंड परिणामकारी होता है। इन्द्रमोहन से वह पिता का बदला लेती है; जिसने उसे समाज में कहीं का न रक्खा।

निरंजना स्वभाव एवं संस्कारों से स्नेहशील, अध्यवसायी एवं परिश्रमी है। वातावरण भी उसका इतना अच्छा रहता है कि उसका विकास उन्नति के शिखर तक हो सकता था; पर प्रारंभिक जीवन में जो हीनता की ग्रंथि पड़ जाती है उससे उसका व्यवहार बदल जाता है। पुरुषों के सम्बन्ध में वह कहती है" वे नारी को केवल अपनी प्यास या आग बुझाने के साधन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझते।"[1] परन्तु साथ ही अपने कार्यों के प्रति सजग होकर वह कहती है: "सचमुच मेरे स्वभाव में बहुत नीचता आ गई है। चूंकि मेरे हृदय की हरियाली एकदम झुलस गई है, इसीलिए जब मैं किसी दूसरे के हृदय की हरियाली को लहलहाते हुये देखती हूं तो मेरे अज्ञात में मेरे भीतर ईर्ष्या की आग धधकने लगती है और मैं भरसक यह प्रयत्न करती हूं कि उसके हृदय की सरस भावनाएं और मधुर स्वप्न भी

१. इलाचन्द्र जोशी: पर्दे की रानी, पृ० २१.

मेरे ही समान भुलस जायें।"[२]

इसी की प्रतिक्रिया में वह शीला की हत्या का अनजान में षड़यंत्र रचती है। निरंजना देखती है कि शीला और इन्द्रमोहन का जीवन सुख से व्यतीत हो रहा है अतएव वह अपने सच्चे भावों का प्रदर्शन एक प्रकार से कर देती है, जिसका परिणाम यद्यपि विनाशक होता है। परन्तु इन्द्रमोहन के अहं के समक्ष उसकी चालें फिर भी बेकार होती हैं और वह पराजित होती है; यद्यपि यह पराजय इन्द्रमोहन की हत्या का कारण भी होती है।

चंद्रशेखर से भी वह प्रभावित है; परन्तु विशेष रूप से वह हीनता की भावना से परिचालित होने के कारण अपनी विकृति की पूर्ति में ही अधिक सचेष्ट मिलती है। इन्द्रमोहन से गर्भिणी होने पर वह गुरु जी से (अन्त में) मिलती है। चन्द्रशेखर उसके मस्तिष्क का विश्लेषण करते हैं और उसे आदर्श-मातृत्व के पथ की ओर उन्मुख करते हैं। संक्षेप में, निरंजना का चरित्र परिवेश के कारण दूषित हो जाता है। उसे दिया गया आघात उसके जीवनक्रम को बदल देता है और उसके स्वाभाविक विकास में बाधक होता है। इन्द्रमोहन का चरित्र भी निरंजना के समान अहं से पूर्ण है। वह अन्तप्रज्ञा न रखने वाला व्यक्ति निरंजना के दर्शन से ही भांप जाता है, साथ ही उसे इसके जन्म एवं संस्कारों का वृत्तान्त भी ज्ञात है। इस ज्ञान की दशा में ही वह अपनी आकांक्षा (कौमार्य खंडित करने की) तृप्त करना चाहता है। यद्यपि इसमें प्रथम अवसर में वह असफल होता है। इन्द्रमोहन का व्यक्तित्व निरंजना से प्रबल एवं दृढ़ कोटि का है। वह अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य "निरंजना का उपभोग" बनाता है और येन केन प्रकारेण, वह उसे पूर्ण भी करता है। लक्ष्य प्राप्ति पर उसे जीवन की चाह नहीं है; इसीलिए वह अपना जीवन भी समाप्त कर

२. इलाचन्द्र जोशी, पर्दे की रानी, पृ० २३.

देता है, यद्यपि इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसे विभिन्न रूपों को धारण करना पड़ता है, पर वह उन्हें नकली मुखड़ों के समान ही प्रयोग में लाता है। यूरोप प्रत्यागत होने के कारण वह भारतीय समाज से आदर चाहता है, जो स्वाभाविक है। "चार्वाक" के मत[१] को मानने के कारण, वह अपना आनन्द ही सब कुछ समझता है और इसी की प्राप्ति में उसके कार्य व्यापार दिखते हैं। यह कार्य व्यापार उसकी धूर्तता, छल, छद्मवेश आदि में स्पष्ट रूप से निखरे हैं। नायक होते हुये भी उसमें कोई महान उद्देश्य नहीं है। "केंस्टी फाल्स" और "पैलेडियम" के प्रसंगों में इन्द्रमोहन की आशा पूर्ति दिखती है। इन्द्रमोहन निरंजना के चरित्र की अस्पष्ट वृत्तियों को प्रदर्शित करने में अधिक सहायक है।

शीला का चरित्र संपूर्ण उपन्यास में एक विशेष प्रकार का है। वह सहनशील, पतिपरायण एवं नम्रता की मूर्ति है। निरंजना से साहचर्य होने पर उसे कल्पना के अनंत लोक का आभास मिलला है। निरंजना के इन शब्दों में "सुख केवल मोहमयी कल्पना है और दुख जीवन के प्रतिपल का प्रत्यक्ष रूप।"[२] उसकी निरंजना के पूर्ण जीवन को जानने की जिज्ञासा वृत्ति जाग उठती है। निरंजना चिर कुमारी क्यों है ? इस पर भी, वह विशेष आश्चर्यान्वित होती है। उसका सहनशील व्यक्तित्व होस्टल मेस में रसोई सम्बन्धी विभिन्न झिड़कियों के सुनने में प्रकट होता है। सहानुभूति उसमें कूट कूट कर भरी है। भारतीय पतिपरायण नारी की तरह, वह अपने यूरोप प्रत्यागत पति की महत्ता पग पग पर बढ़ाना चाहती है। निरंजना से इन्द्रमोहन का वार्तालाप विशेष रूचि से होता है; परन्तु जब उसे (शीला को) यह ज्ञात होता है कि वे उसे

---

१. 'यावत् जावेत सुखम् जीवेत ऋणं कृत्वा घृतम पीवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन, कुतः॥

२. श्री इलाचन्द्र जोशी: पर्दे की रानी, पृ० १८.

(निरंजना को) चाहते भी हैं तो वह (शीला) अपनापथ निश्चित कर लेती है। और ज्ञात रूप में भी संखिया का सेवन करती रहती है।

शीला का संतुलन अन्त तक समाप्त नहीं होता। दृढ़ संकल्प उसका आभूषण है; जिसमें सेवा और स्नेह, सहायता और सद्भावना, कर्मण्यता एवं सारल्य के मोती जड़े हुए हैं। इस प्रकार मणिजड़ित आभूषण को खोकर इन्द्रमोहन भी बाद में पश्चाताप की अग्नि में जलता है।

चन्द्रशेखर और मनमोहन सिंह के चरित्र उपन्यास में अधिक स्पष्ट नहीं उभरे हैं। चन्द्रशेखर-गुप्त की किन्हीं विशेषताओं का प्रभाव निरंजना पर पड़ता है। निरंजना का मानसिक विश्लेषण चन्द्रशेखर ही करते हैं। समय समय पर निरंजना की सहायता भी करते हैं, जैसे होटल से भागने के समय वह रास्ते में मिल जाते हैं। इन्द्रमोहन के गोली से घायल करने पर भी (क्षमा की मूर्ति) उसे दया दान करते हैं और अपने व्यवहार से उसे अपना मित्र बनाते हैं। निरंजना का सम्बन्ध "चन्द्रशेखर से" होस्टल में जाने के कारण छूट जाता है, परन्तु उपन्यास-कार ने अन्त में उसकी विकृति का पूर्ण सुलझाव करने के लिए चन्द्र-शेखर को उपस्थित किया है। गुरु जी अपने वैवाहिक जीवन से अधिक प्रसन्न हैं यद्यपि उन्हें निरंजना से विशेष सुन्दर पत्नी नहीं मिली है। इस प्रकार चन्द्रशेखर के चरित्र में दूरदर्शिता, निष्कपट भाव से सहायता एवं मानसिक स्वस्थता के गुण विद्यमान हैं। उनकी शिक्षा उसमें द्विगुणित प्रकाश लाती है।

मनोवैज्ञानिक आश्रय

प्रस्तुत उपन्यास में एडलर का मनोविज्ञान निहित प्रतीत होता है। एडलर के अनुसार "हीनता की भावना" न्यूनाधिक मात्रा में सब में रहती है। इस हीनता को दूर करने के लिए प्रत्येक मनुष्य बचपन से ही सचेष्ट रहता है। शक्ति प्राप्ति का इसमें विशेष महत्व है। हीनता

का बोध, हीनता जनित क्षति पूर्ति की आकांक्षा और इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए शक्ति प्राप्ति की भावना ये तीन बातें एडलर के मनोविज्ञान के मूल आधार हैं।[1] "पर्दे की रानी" में प्रमुख दो पात्र हैं १. निरंजना और २. इन्द्रमोहन।

निरंजना का चरित्र जोशी जी के अन्य पात्रों से अधिक स्पष्ट उभरा है। वह एक खूनी पिता और वेश्या मां की लड़की है; जिनके कारण वह समाज में हेय समझी जाती है। निरंजना में अहंभाव की प्रधानता पूर्व से ही है। साथ ही मनमोहन सिंह द्वारा किया गया आघात, उसे अपनी मां और पिता से प्रतिशोध लेने के लिए बाध्य करता है। इस स्थिति में वह अपनी मां और पिता को नहीं पा सकती है; अतएव वह इन्द्रमोहन और शीला को उनका प्रतीक बनाती है। इन्द्रमोहन के प्रारम्भिक कार्यों से वह असंतुष्ट होती है; परन्तु शासन की आकांक्षा उसमें विद्यमान रहती है। इन्द्रमोहन ने चन्द्रशेखर को गोली मारी थी जिससे उसके खूनी पिता से साम्य मिलता है। शीला उसकी सहेली है, मां के समान वह उससे स्नेह रखती है, परन्तु शीला का विवाह इन्द्रमोहन से संपन्न होता है इसलिए "खूनी पिता" की पत्नी के रूप में वह "वेश्या मां" का प्रतीक है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप में शीला और इन्द्रमोहन के समक्ष अपनी हीनता को समाप्त करना चाहती है। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में अपने अहं से उनके व्यक्तित्व को चकनाचूर करना चाहती है। इस प्रयत्न में वह अधिक सक्रिय प्रतीत होती है।

सर्व प्रथम, वह शीला से अपना प्रतिशोध लेती है। मसूरी में दो वर्ष के बाद मिलने पर निरंजना इन्द्रमोहन के प्रति अपना मग बदल देती है। शीला के प्रति ईर्ष्या बढ़ती है और वह इन्द्रमोहन से अपना संपर्क बढ़ाती है। इसी संपर्क बढ़ाने की प्रक्रिया में वह एक नीति से कार्य लेती है। वह उस पिपासु इन्द्रमोहन से कहती है कि निरंजना का पूर्ण

१. देख, परखा पृ० ४१.

सानिध्य तभी प्राप्त हो सकता है; जब शीला उसके पथ से हट जावे। इस प्रकार वह इन्द्रमोहन को शीला की हत्या के लिए प्रेरित करती है। इन्द्रमोहन नियमित रूप से संखिया का सेवन अनजाने में कराता है। हृदय शनैः शनैः निर्बल होता जाता है और एक अवधि के भीतर वह समाप्त हो जाती है।

इन्द्रमोहन के मन में स्थित अतृप्त आकांक्षा विशेष घर किए है। वह अपना संतोष चाहती हैं। निरंजना को अपने अनुकूल करने के लिए वह भी शीला को उसके कहे अनुसार समाप्त करने की ठान लेता है। शीला को समाप्त कर, वह निरंजना से जो अपेक्षा करता है, उसकी पूर्ति में दत्तचित्त होता है। वह नाटकीय अभिनय के साथ बताता है कि राजनीतिक षड्यंत्र में वह बंदी होने वाला है; अतएव जीवन के अन्तिम दिनों को वह नैपाल में (भारत की सीमा के बाहर) निरंजना के साथ व्यतीत करना चाहता है। निरंजना अपनी विजय की आकांक्षा के लोभ में उसे अनुमति प्रदान करती है। अहं की प्रधानता उसे इतना—एक लक्ष्यमय बना देती है कि वह जीवन का पूर्ण लक्ष्य केवल निरंजना के कौमार्य खंडित करने वाली अपनी वृत्ति को मान लेता है। गाड़ी में वह रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में निरंजना के गाढ़ आलिंगन से अपनी आकांक्षा की तृप्ति करता है। लक्ष्य की पूर्णता के पश्चात् वह अपने अभिनय का रहस्य भी स्पष्ट कर देता है। निरंजना का अहं भाव तीव्रता से जागृत होता है और वह कटु शब्दों में उसे धिक्कारती है, जिसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रमोहन अपनी आत्महत्या कर लेता है। जीवन का लक्ष्य उद्देश्य की पूर्ति करना है। चूँकि इन्द्रमोहन का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है, अतएव उसे जीवन की चाह नहीं रहती है। उसे जीवन को भी समाप्त करने में कोई हिचक नहीं रहती और इसी कारण इन्द्रमोहन अपना जीवन, लक्ष्य पूर्ति कराने वाले के (निरंजना के) एक ही संकेत पर न्यौछावर कर देता है।

निरंजना का अहं इन्द्रमोहन के अहं से चकनाचूर अवश्य हो जाता है, परन्तु वह इन्द्रमोहन को खोकर मातृत्व की गुरुता से पूर्ण होती है। चन्द्रशेखर उसे मातृत्व की आदर्श भूमि पर सुखपूर्वक चलने का निर्देश देते हैं। चन्द्रशेखर के जीवन में संतुलन मिलता है; जिसका अनुसरण निरंजना भी करती है।

इस प्रकार "पर्दे की रानी" में जोशी जी के अन्य आरंभिक उपन्यासों की अपेक्षा अधिक मनोविज्ञान-सम्मत समस्या की योजना की गई है। व्यक्ति का अहं, हीनता की भावना, विकृत व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं। यह अहं बाल्यकाल में ठोकर खाने पर, जीवन के साथ विकसित होता है। अहं का विकास विकृति को अधिक बढाता है और हीनता ग्रंथि के साथ उसका रूप अधिक भयंकर हो जाता है। यह निरंजना के चरित्र में पूर्णरूपेण मिलता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाह्य उपादानों का भी महत्व है। समाज की विचारधारा व्यक्ति के विकास में जितनी सहायक है, उतनी ही बाधक भी है। निरंजना समाज में स्थान न पाने के कारण पहले से कुछ बौखलाई-सी थी, पर मनमोहन सिंह का उसके माता-पिता सम्बन्धी रहस्योद्घाटन तीक्ष्ण आघात का कार्य करता है; जिसका परिणाम इन्द्रमोहन की मृत्यु और निरंजना का सर्वस्व नाश।

सामाजिकता का समावेश :

जोशी जी के विशिष्ट यथार्थवाद में सामाजिकता के तत्व और सार्वजनिक मंगल की भावना को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। "लज्जा" और "सन्यासी" में इस तथ्य की पूर्ति प्रकारान्तर से ही मानी जा सकती है। लज्जा और नन्दकिशोर अपने स्वाभाविक दुःखद परिणाम में पहुँचकर मानो एक चेतावनी का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और यह संकेत देते हैं कि उनके विशेष पथ पर चलकर व्यक्ति केवल विनाश पर ही पहुँच सकता है और इस प्रकार उनका पथ

जन समाज के लिए उपादेय नहीं। "सन्यासी" में बलदेव की सांकेतिक उपस्थिति जीवन के अधिक प्रकृत पक्ष का समावेश करके लज्जा और नन्दकिशोर जैसे पात्रों के अशेष असंतुलन की पूर्ण भयंकरता को स्पष्ट करने में सहायक होती है। स्वस्थ समाज का प्रतिनिधि बलदेव "पर्दे की रानी" में चन्द्रशेखर बनकर उपन्यास के कार्य में अधिक महत्वपूर्ण योग देता है। चन्द्रशेखर के द्वारा सामाजिकता के स्वर "पर्दे की रानी" में गूँजने का अवसर पा लेते हैं। इसके अतिरिक्त निरंजना, इन्द्रमोहन और मनमोहन सिंह जैसे पात्रों की विशेष मनोवैज्ञानिक निर्मिति के वैयक्तिक उपादानों के साथ वंशानुक्रम और परिवेश के उपादानों का भी सम्यक योग किया गया है; इसीलिए इस कृति में चरित्र चित्रण अधिक सहेतुक, ठोस और सजीव बन पड़ा है। नन्दकिशोर में हम उसकी विशेष मनोवृत्ति से ही परिचित होते हैं, उसके कारणों से नहीं, मानो शून्य में अचानक एक विशेष बात सामने ला दी गई; किन्तु सामाजिक तत्वों के सन्निवेश द्वारा "पर्दे की रानी" के पात्र 'केवल शून्य' की संतति होने से बच गए हैं। सामाजिक पक्ष का सन्निवेश इस कृति में भी उर्ध्वगामी सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन का आधार नहीं बन पाया है किन्तु भविष्य में ऐसे विकास की सूचना वह अवश्य देता है। जोशी जी के उपन्यासों में विशुद्ध मनोवैज्ञानिक तत्वों से आरभ्भ करके क्रमशः अधिक व्यापक दृष्टिकोण की ओर जो विकास हुआ है; उसमें "पर्दे की रानी" एक महत्वपूर्ण और कलात्मक शृंखला है। वह एक धरातल पर स्वयं एक उपलब्धि होने के साथ आगामी उपलब्धियों का आरम्भ बिन्दु ही है।

: ७ :

मध्यस्थिति के उपन्यास

आरम्भिक वक्तव्य

'घृणामयी' अथवा 'लज्जा' जोशी जी की प्रथम औपन्यासिक कृति होने के अनुकूल अंततः रूपहीन ही कही जायगी। अनेक तत्वों के योग से जिस व्यापक एकता की सृष्टि उपन्यास में की जाती है, उसका उसमें अभाव है। जिस वस्तु अथवा सामग्री पर उसका ढांचा खड़ा किया गया है, वह बहुत क्षीण है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अन्तःदृष्टि की सूक्ष्मता भी उसमें लक्षित नहीं होती। किन्तु "पर्दे की रानी' तक पहुँचकर जोशी जी अपने उपन्यास का विशिष्ट स्वरूप खड़ा करने में सफल हो गए। एक संगठित कथानक का आश्रय लेकर चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिक तत्वों का सन्निवेश भी वे सफलतापूर्वक कर सके। इस कृति से आगे बढ़ कर "प्रेत और छाया" तथा "निर्वासित" में उनकी विशिष्ट उपन्यास-कला का संभव उत्कर्ष हमें दिखाई देता है। जोशी जी के पूर्ववर्ती कृतित्व का एक भी ऐसा विकसित तत्व नहीं है जिसे इन दो कृतियों में भी उपयुक्त स्थान न मिला हो। इस के साथ ही ऐसे सूत्रों और तत्वों का योग भी सार्थक विधि से उन्होंने किया है, जो पूर्ववर्ती कृतियों में अनुपस्थित अथवा अविकसित है। इस प्रकार उपन्यास की भूमिका अधिक व्यापक हो गई है और जोशी जी के जीवनदर्शन में एक नई समग्रता आ सकी है। केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि को लेकर चलने का आग्रह यद्यपि जोशी जी ने कभी नहीं किया

तथापि उनकी आरम्भिक कृतियों में इस प्रकार की एकांगिता मिलती है। इस दृष्टि से "प्रेत और छाया" तथा "निर्वासित' एक उच्च तर संतुलन उपस्थित करती है, जिनमें बाह्य और आन्तरिक शक्तियाँ समान रूप से एक दूसरे पर प्रतिक्रिया करते हुए, कथानक और पात्रों का चरित्र विकसित करती हैं। यथार्थ के प्रति निष्ठा के साथ लोक-मंगल का जो आग्रह जोशी जी में है, उसका उपयुक्त पल्लवन 'मंजरी' और 'प्रतिमा' जैसे सुविकसित पात्रों के आश्रय से, वे इन कृतियों में कर सके हैं।

"प्रेत और छाया"

अभी तक जोशी जी के दृष्टिकोण में व्यक्ति की प्रधानता रही है। व्यक्ति की इस प्रधानता को परिपुष्ट करने में उन्होंने फ्रायड और एडलर की प्रतिपत्तियों का उपयोग किया था, किन्तु अब व्यक्ति को उसका अधिकार देकर भी वे सामाजिकता की ओर विशेष उन्मुख होते हैं। इस कार्य की प्रस्तावना के रूप में भी अपना दिशा-निर्देश, वे एक मनोवैज्ञानिक ढंग से ही पाते हैं। सामूहिकता की ओर अभियान आरंभ करते हुए, वे युग के सामूहिक अचेतन का प्रशस्त आधार अपनाते हैं। "प्रेत और छाया" की भूमिका में इस नई और व्यापक दृष्टि का उल्लेख करके उन्होंने अपने कृतित्व के नये विकास और मन्तव्य की सूचना दे दी है। यह कार्य उन्होंने ठीक किस प्रकार संपन्न किया है, इसे हम स्वयं, इन कृतियों के विश्लेषण द्वारा जानने का प्रयत्न करेंगे। इस उपन्यास में एक ऐसे व्यक्ति की जीवन कथा कही गई है, जो एक गहरा मानस-आघात पाकर अपना संतुलन खो बैठा है। उसके परिणाम स्वरूप उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। यह विकृति उसे क्रमशः पतन की चरम सीमा तक ले जाती है—जहाँ मनुष्योचित आत्मगौरव का लेश भी उसमें नहीं रह जाता। उस मानस-

आघात के दूर होने के साथ किस प्रकार व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मनोदशा में आ जाता है, इसे अंकित करते हुए यह कृति समाप्त हो जाती है।

कथानक :

पारसनाथ इस उपन्यास का नायक है। युक्तप्रान्त के किसी विख्यात शहर में किसी कुख्यात होटल में पाँच व्यक्तियों के समक्ष 'समाज' शब्द की अवृत्ति से उसका हृदय झनझना जाता है। समाज ने ही उसकी माँ के आचरण पर आक्रमण किया था। उसके पिता ने उससे कहा था कि वह व्यभिचारिणी माँ का पुत्र है। उसका पिता भी कोई अन्य पुरुष है। इस वाक्यावली से उसे घोर आघात पहुँचा और वह सदा के लिए नारी जाति का शत्रु हो गया।

कुछ समय पश्चात् उसका मिलाप मंजरी से होता है, जो विशेष परिस्थितियों के कारण विवशता पूर्ण जीवन व्यतीत कर रही है। मंजरी की विवशता और उसकी माँ की मृत्यु पारसनाथ को विशेष परिस्थिति में बद्ध करती हैं। वह मंजरी को अपना आश्रय अवश्य देता है, परन्तु उसके मन में स्थित विद्रोह समय-समय पर उभर आता है और उसके मन में संघर्ष उत्पन्न कर देता है। इस समय मंजरी के साथ उसका सम्बन्ध पति-पत्नी का रहता है।

भुजौरिया जी से पारसनाथ के सम्बन्ध अधिक जटिल थे। इस कारण, वे अपनी पत्नी नंदिनी को चित्रकला सिखाने के लिए पारसनाथ से प्रार्थना करते हैं। अर्थाभाव, उसे इस कार्य में दत्तचित होने के लिए बाध्य करता है। चित्रकला के शिक्षण में उसका सम्बन्ध नंदिनी से विशेष घनिष्ठ होता है। नन्दिनी भुजौरिया जी द्वारा त्रस्त नारी है। वह पुरुष का अवलम्बन चाहती है। पारसनाथ इस समय एक उपयुक्त पात्र मिलता है, जिसकी विकृति से वह परिचित नहीं है। भुजौरिया जी की कूटनीति एवं प्रवृत्तियों का पूर्ण विवरण नन्दिनी

पारसनाथ के समक्ष रखती है। अर्थ सम्बन्धी सहायता भी नन्दिनी पारसनाथ को देती है।

मंजरी की प्रकृति से परिचित होने पर पारसनाथ सफल जीवन व्यतीत करने के लिए चित्रकला में विशेष रुचि लेने लगता है। उसका जीवन इतना व्यवस्थित होने लगता है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे पारसनाथ ने प्रथम बार नारी जाति को सम्मान की दृष्टि से देखा हो। पारसनाथ के व्यवहार से मंजरी समझती है कि वह त्रसित व्यक्ति है। प्रेम का स्वस्थ रूप दोनों में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रेम के बीच पारसनाथ की नारी विद्रोही प्रवृत्ति जागृत होती है और वह मंजरी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

पारसनाथ इस बीच नन्दिनी के घर जाता है। भुजौरिया जी यद्यपि बाहर गए हुए थे, परन्तु नन्दिनी के व्यवहार से वह तंग आ जाते हैं और दोनों को (नन्दिनी और पारसनाथ) रोमान्स करते हुए एक होटल में पकड़ते हैं। घर आने पर वे उन्हें कत्ल की धमकी देना चाहते हैं, पर असमर्थ रहते हैं। पारसनाथ मंजरी के पास अब अधिक समय व्यतीत नहीं करता है जब कि मंजरी इसी समय मातृत्व के भार से गुरुता अनुभव करती है। आगामी शिशु के लिए उचित साज-सज्जा के परिधान आदि का निर्माण पारसनाथ को अधिक खलता है। वह गर्भपात की दवा का प्रबन्ध करता है और यह धोखा देना चाहता है कि मंजरी के लिए विशेष प्रकार की स्वास्थ्यवर्धक औषधि की व्यवस्था की गई है। मंजरी का सामान्य ज्ञान इतना अधिक है कि वह लेबिल रहित बोतल की दवा पीना धोखा समझती है।

प्रसव काल के समय पारसनाथ दिन-दिन घर से बाहर रहता है। बालक के जन्म दिन पर वह नन्दिनी के साथ रहता है। घर आने पर बहाने और छल द्वारा वह क्षमा भी मांग लेता है। इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए एक दिन वह नन्दिनी के साथ लखनऊ

को भाग निकलता है। जिस अवस्था में उसने भागने का दृढ़ संकल्प करता है। उसमें वह मूल रूप में वह नारी जाति से बदला ले रहा है और वह भी सती-साध्वी नारी से। नन्दिनी को समझने में वह भूल करता है। वह वेश्या निकलती है, यहाँ दूसरी बार उसकी हार दृष्टिगत होती है। निराशा की अति में भी वह नन्दिनी की बहिन हीरा से अधिक मेल बढ़ाता है और विक्षेप की अवस्था में उससे वैवाहिक प्रस्ताव भी रखता है। इसी प्रयत्न में वह सक्रिय हो ही रहा था कि उसे चन्द्रबहादुर (पिता का नौकर) मिलता है। पिता की मृत्युशय्या पर अन्तिम श्वास गिनने की स्थिति में वह तिब्बती दानव के पास जाता है(तिब्बती दानव, जो उसने अपने पिता का नामकरण किया था) इस समय उसका पिता जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। वह प्रायश्चित की अग्नि से पीड़ित है और सत्य का उद्‌घाटन करता है। पारसनाथ की विकृति समाप्त होती है और वह स्वास्थ्य लाभ भी करता है। पिता की अनुमति से उसका विवाह भी हीरा के साथ संपन्न हो जाता है।

मंजरी पारसनाथ के चले जाने पर कुछ समय तक विकल रहती है। प्रथम वह उसी होटल में जाने का विचार करती है, जहाँ पारसनाथ से संपर्क हुआ था, पर बाद में उसका विचार बदल जाता है। नारी-निकेतन में रहकर वह इतनी उन्नति करती है कि संचालिका महोदया उसे मेडीकल कोर्स के लिए कलकत्ता भेजती हैं। कालिज के प्रवीण अध्यापक मन्मथराय से उसकी घनिष्ठता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि अध्ययन समाप्त होते ही वह वैवाहिक बंधन में संग्रथित हो जाती है।

पारसनाथ के विवाहोपरान्त हीरा से एक लड़की उत्पन्न होती है। जिसका स्वास्थ्य बिगड़ने पर अचानक पारसनाथ और मंजरी की भेंट होती है। इस समय पारसनाथ उस विकृतिपूर्ण वातावरण एवं मानसिक स्थिति से मुक्त है। अतएव वह अपने कार्यों पर बारम्बार

क्षमायाचना करता है।

पात्र :

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संपूर्ण उपन्यास में प्रमुख पात्र चार हैं, मंजरी, नन्दिनी, भुजौरियाजी और पारसनाथ। पारस का सम्बन्ध तीन नारियों से होता है। इसी सम्पर्क में उसके कतिपय गुणों का स्पष्टीकरण होता है। पारसनाथ के मन में एक विशेष आघात उसकी मां के चरित्र सम्बन्धी था। इस आघात के फलस्वरूप वह नारी जाति से घृणा करने लगता है और समाज में उन रूढ़ियों को महत्व नहीं देता है जो आवश्यक हैं। विवाह की बात सुनते ही उसके हृदय में प्रतिहिंसा जागृत होती है और वह उस स्थान से पलायन करता है, यह उसकी विकृति का प्रमाण है। दार्जिलिंग में 'कांची' के वैवाहिक प्रस्ताव पर वह उससे पलायन करता है।

मंजरी से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर एक स्थिति (मंजरी की मां की मृत्यु) ऐसी आती है कि उसे मंजरी को अपना आश्रय देना पड़ता है। मंजरी से उसका पति-पत्नी का व्यवहार चलने लगता है पर विवाह की चर्चा आते ही उसकी विकृति पुनः उसे पलायन करने को बाध्य करती है। साधनहीन होने के कारण उसे बालक के जन्म तक रुकना पड़ता है परन्तु इस बीच उसकी विकृति अपने अज्ञानपूर्ण कार्य से उसे लज्जित कराती है। वह गर्भपात की दवा ले आता है जिसका प्रयोग मंजरी नहीं करती क्योंकि दवा की शीशी बिना लेबिल के थी।

मंजरी के व्यवहार में उसे पूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होता है तो वह एक ओर उससे आकर्षित होता है, दूसरी ओर भय से पीड़ित भी होता है और कहता है: "मैं तुमसे प्रेम भी करता हूँ और डरता भी हूं। ये दोनों बातें इस हद तक एक दूसरे से मिली हुई हैं कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है; फिर भी एक बात तुम विश्वास कर लो

कि तुमसे जो मैं डरता हूँ उससे तुम्हारे प्रति मेरे प्रेम में कोई कमी आने के बजाय और अधिक गहराई और गंभीरता आ गई है।[1]

हीनतावृति उसे नारी जाति से घृणा अवश्य कराती है; परन्तु अपनी क्षति पूर्ति के लिए उसे अन्य मार्ग की ओर प्रवृत भी करती है। वह नारी से घृणा करता है, उसके सतीत्व को लूटकर अपनी मां से प्रतिशोध लेना चाहता है। मंजरी से पलायन करने पर वह नन्दिनी के साथ लखनऊ आता है, उसे ज्ञात होता है कि यह भी एक वेश्या है, जिसे वह एक सतीसाधवी समझे हुए था। यह प्रबल पराजय, उसे निराशामय कर देती है। पर वह अपने प्रतिशोध का मार्ग पुनः खोज निकालता है। नंदिनी का बदला वह उसकी बहिन हीरा के भगाने में लेता है और यदि इस बीच में उसकी भेट अपने पिता से न होती तो वह न स्वास्थ्य लाभ करता और संभव है, हीरा को भी छोड़कर आगे बढ़ता। पर स्वास्थ्य लाभ करने पर वह पूर्ण रूप से हीरा से वैवाहिक संबन्ध में संग्रथित हो जाता है। इन प्रयत्नो के बावजूद भी पारसनाथ एक कुशल चित्रकार है। उसकी दूरदर्शिता एवं गुण-विशेषज्ञता नन्दिनी के बार-बार तम्बाकू की डिबिया उसके सामने बढ़ाने में लक्षित होती है। वह कहता है कि यह डिबिया अवश्य ही नन्दिनी के किसी महत्वपूर्ण जीवन अंश से संबंधित है।[2] जिस समाज ने उसे पद-दलित किया, जिस नारी के आचरण से उसे विशेष मर्मघाती आघात मिला, उससे मानव प्रकृति कैसे प्रतिशोध लिए बिना रह सकती है। यही प्रतिशोध की भावना परिवर्तित रूप में नन्दिनी और पारसनाथ के आलिंगन में स्पष्ट होती है: "मैं प्रेत हूं नंदिनी और

---

१. प्रेत और छाया, पृ० १४०।

२. "प्रेत और छाया" मुझे ऐसा मालूम होता है नन्दिनी देवी, कि यह छोटी सी तम्बाकू की डिबिया आप के जीवन के किसी एक विशेष महत्वपूर्ण अध्याय से सम्बन्धित है।" पृ० ७०।

तुम छाया हो, तुम छाया हो और मैं प्रेत। इसलिए तुमसे मेरा मिलन हुए बिना नहीं रह सकता। मेरी छाया, मेरी छाया।"[१] इसी कारण वह जटिलतर संबंध (जो मंजरी और पारसनाथ का होने वाला था) को छोड़ कर नन्दिनी के साथ भागता है और अपमानित होने पर भी वहां से वापस नहीं आता।

हीरा के साथ भागने पर यदि उसका स्वास्थ्य लाभ न होता तो वह और ही भिन्न पुरुष होता, परन्तु इस प्रतिक्रिया से वह स्वस्थ जीवन व्यतीत करने लगता है, जिसके फलस्वरूप दुबारा मंजरी से मिलने पर क्षमा याचना करता है।

भुजौरिया जी एक लंपट, कामी, क्रूर एवं धूर्त व्यक्ति है। नंदिनी से विवाह करने में उनका धन अर्जित करने का लक्ष्य था और वे इस में किन्हीं अंशों तक सफल भी होते हैं, परन्तु नन्दिनी उनके इस व्यवहार से त्रसित रहती है। पारसनाथ भुजौरिया जी के चंगुल में आ जाता है और अपने चित्र कम मूल्य पर इन्हें बेचता है; जिसका अधिकाधिक मूल्य, ये महाशय अन्य व्यक्तियों से लेते हैं। भुजौरिया जी अविश्वासी हैं और इसी कारण वे अपने ऊपर भी संयम नहीं रख पाते हैं। पारस और नन्दिनी को एक होटल में एक साथ पाने पर वे उन्हें घर ले जाते हैं और चाकू निकालकर धमकाते हैं पर नन्दिनी के मुख से अपने कार्यों का कच्चा चिट्ठा सुनकर स्वयं विलाप करने लगते हैं। नन्दिनी के लखनऊ पलायन करने पर बाद में भुजौरिया जी नंदिनी से अपने कर्मों के प्रति क्षमा भी मांगते हैं।

मंजरी एक आत्मविश्वासी, धैर्यवान, अध्यवसायी एवं उच्चाकांक्षाओं से पूर्ण नारी है, जिसे समाज की परिस्थितियों ने विवशतावश होटल में जाने को बाध्य किया था। मंजरी की सौजन्यता का लाभ पारसनाथ उस समय उठाता है, जब वह मां की मृत्यु के बाद

१ प्रेत और छाया : प० २३६।

उसके आश्रय में रहती है। पुत्र आगमन की सूचना सुनकर वह उतनी ही प्रसन्न होती है, जितना कि पारसनाथ दुखित। वह उस व्यक्ति के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहती है, जिसने उसे अपना आश्रय दिया। मंजरी की क्रियाशीलता ही पारसनाथ को चित्रकला में संलग्न करती है। प्रेम की इतनी सौम्य मूर्ति है कि वह अपने प्रभाव से पारसनाथ के संपूर्ण विचारों में आमूल परिवर्तन कर देती है, पर उसके हृदय के किसी कोने में स्थित विकृति के बीज (समाज या 'विवाह' शब्द सुनकर विस्फोटित हो उठता है) को समूल नहीं निकाल पाती। कर्त्तव्य परायण होने के कारण वह प्रेम को सामाजिक रूप देना चाहती है परन्तु असफल प्रतीत होती है। मंजरी की ममता मां के प्रति अतुल थी।

अनुभवी गृहिणी के अनुसार वह सब कार्यों पर विशेष दृष्टि रखती है। पारसनाथ द्वारा छली जाने पर भी वह आत्माभिमान और साहस से कार्य करती है। अपना कर्त्तव्य पथ निश्चित करके, वह उन्नति भी कर लेती है। अन्तिम समय में, पारसनाथ के मिलने पर वह उसे उस रूप में नहीं मानती कि वह दुखी व्यक्ति है। परन्तु क्षमामूर्ति और कुछ न कहकर उसके जघन्य अपराधों पर भी चुप रहती है।

नंदिनी का चरित्र उपन्यास में यद्यपि एक वेश्या के रूप में आया है; परन्तु वास्तव में वह इससे भिन्न है। वह वेश्या जीवन को त्याग कर एक सद्गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना चाहती थी। इसी कारण उसने भुजौरिया जी से विवाह किया था, परन्तु भुजौरिया जी का वास्तविक चरित्र उससे छिपा न रहा और वह इस अशान्तिपूर्ण वातावरण में छटपटाने लगती है। पारसनाथ का सहारा पाकर वह पुनः एक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना चाहती थी, परन्तु उसकी वृतियों से परिचित होने पर उसे पुनः क्षोभवश अपने क्षेत्र

में वापस जाना पड़ता है। लखनऊ में पारसनाथ अब कुछ नहीं कर पाता है। नन्दिनी का मुजरा पुनः चालू होता है। ठाकुर साहब सदृश प्रेमी उसकी भूरि भूरि-प्रशंसा करते हैं, "यह जो नारी आर्थिक विवशता से या समाज की कुव्यवस्था की बाध्यता····सैंकड़ों अमानुषिक अन्यायों के भार से दबी है। तिस पर भी वह अपने अन्तर के अगम मन्दिर में शुभ्र नारीत्व का कभी न बुझने वाला दीपक जलाए हुए है—और मैं इसी दीपक का पतंग बनने की इच्छा रखता हूं।[1] नन्दिनी के संपूर्ण चरित्र में इस प्रकार एक उच्च आदर्श व्याप्त रहा है, परन्तु वह उसका स्थापन अपने जीवन में नहीं कर सकी।

मनोवैज्ञानिक आशय :-

इस उपन्यास की भूमिका में जोशी जी ने स्पष्ट किया है कि "सभी प्रकार के जीवन चक्रों की मूल परिचालिका शक्ति है विश्व-मानव की अज्ञात चेतना····अन्तर्जीवन और अज्ञात चेतना से संबंधित रचनाओं की उपेक्षा करने से काम न चलेगा।" पाठकों से वे चाहते हैं कि वे भी अन्तर्जीवन को उतना ही महत्व दें जितना कि बाह्य जीवन को। यह तथ्य इस उपन्यास में किस प्रकार निरूपित हुआ है ? उत्तर के लिए हमें पारसनाथ की जीवन-गति पर ध्यान देना होगा। आरंभ में वह एक प्रकृत स्वभाव का मनुष्य है। पिता के द्वारा उद्घाटित भीषण तथ्य उसके संतुलन को मिटा देता है और इस तथाकथित तथ्य के कपोल कल्पित सिद्ध होते ही वह पुनः प्रकृत हो जाता है। इन परिणतियों में संकेत यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति सामूहिक जीवन के अनुकूल है। सामूहिक अचेतन जीवन को उचित दिशाओं में परिचालित करता रहता है। इसमें विच्छेद उत्पन्न करने वाली वस्तु व्यक्ति को सामूहिक जीवन से अलग फेंक देती है। उस वस्तु के निराकरण द्वारा सामूहिक अचेतन के साथ

१. प्रेत और छाया : पृ० ३३२।

जीवन गति की अनुकूलता प्राप्त होती है। व्यक्ति पुनः अपने प्रकृत स्वरूप में आ जाता है।"

डा० देवराज ने उपर्युक्त तथ्य को फ्रायड के आश्रय से इडिपस ग्रंथि के क्रियाचक्र के रूप में देखा है।[१] पिता के प्रति शत्रुभाव और मां के प्रति प्रेम इस ग्रंथि के दो सहवर्ती मूल तत्व हैं। किन्तु जीवन की अन्य परिस्थितियों के अनुसार वे अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। पारसनाथ के जीवन में इस ग्रंथि की क्रियाशीलता उस समय उद्-घाटित होती है जब उसे उसके जन्म की कथा सुनाई जाती है। इसी के फलस्वरूप अपने पिता को वह तिब्बती दानव कहता है; किन्तु मां के प्रति प्रेम के स्थान पर यहां हम उसके लिए भी घृणा ही पाते हैं। यह उसकी उस दुश्चरित्रता के कारण है, जो पारसनाथ के समस्त जीवन को कलंकित बनाकर उसमें एक अमिट हीनता का भाव उत्पन्न कर देती है। इडिपस ग्रंथि की मान्यता पर चलने में कठिनाई यह है कि वह पूर्णतया अचेतन होती है और यहां चेतना में उसका सीधे प्रक्षेप किया गया है। मनोविज्ञान और कला दोनों ही की दृष्टि से यह कार्य बहुत स्थूल कोटि का है।

उपर्युक्त मानस आघात पारसनाथ के जीवन को एकाकी, असामाजिक और नारी के प्रति प्रतिशोध भावना से युक्त बना देता है। अपनी मां के अक्षम्य अपराध का बदला वह दूसरी नारियों से लेता है। कांची, मंजरी, नंदिनी सभी उसके इस प्रतिशोध के चक्र के अन्तर्गत आती हैं। यह प्रतिशोध ऐसी नारियों को खण्डित करने में सन्निहित है जो पारसनाथ की दृष्टि में सुशील और सभ्य हैं। उन्हें अपनी पतित माता की तुलना में रखकर अपनी घृणा को वह साकार करता है। शीलवान नारी ही उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है, पतित नारी नहीं, इसका निरूपण हमें नन्दिनी के साथ उस

१. डा० देवराज उपाध्याय, आधुनिक-हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृ. ४१-४२

के अनुभव में मिलता है। नन्दिनी को भले घर की बहू समझकर वह भगा ले जाता है किन्तु यह ज्ञात होते ही कि वह वेश्या समाज की लड़की है, उसका समस्त विकृत उल्लास धूल में मिल जाता है और एक विशाल प्रवंचना की अनुभूति से विषण्ण हो उठता है। नन्दिनी के इस विद्रूप में पारसनाथ की व्यंग्यात्मक स्थिति प्रकट होती है: "तो क्या अभी तक तुम यह समझे बैठे थे कि समाज के और पति के बंधन में बंधी हुई एक भले घर की बहू को फुसला कर भगाए ले जा रहे हो।.....एक कुलीन घराने की विवाहिता स्त्री को भगा कर उसका धर्म नष्ट करने में तुम जैसे अधम पुरुषों को जो सुख मिलता है वह किसी वेश्या समाज की लड़की को (चाहे वह विवाहित ही क्यों न हो) भगाने में कहां मिल सकता।"[१] पतित नारी को और पतित करने का कोई अर्थ नहीं है। अतएव वे पारसनाथ के प्रतिशोध के लिए उपयुक्त पात्र ही न थीं।

पूर्ववर्ती कृतियों में विकृति तो अंकित थी; किन्तु उसका उपचार नहीं। यहां जोशी जी यह प्रदर्शित करते हैं कि दमन करने वाली शक्ति के मिथ्यात्व का ज्ञान पाते ही विकृति का उपचार हो जाता है। यह तत्वमनोविश्लेषण की उपचार विधि के अनुरूप है।

सृजन और विकास के तत्व :

यथार्थ से पलायन नहीं, किन्तु उसकी स्वीकृति और उसका ज्ञान ही मनुष्य को वास्तविक मंगल के पथ पर ले जाता है, यह निर्देश इस कृति में सन्निहित है। यही नहीं; इसमें एक आस्था के तत्व की भी स्थिति है, वह आस्था यह है कि मनुष्य की अन्तरात्मा में सृजन के बीज भी उपस्थित रहते हैं और उपयुक्त अवसर पाकर वे विकसित होते हैं। अभी तक जोशी जी ने विकृति और तद्जन्य विनाशलीला का ही परिचय हमें दिया था, उसे देखकर हमें यह संदेह उत्पन्न हो

१. प्रेत और छाया : पृ० ३०३.

सकता था कि मनुष्य की प्रकृति ही पतनशील और विनाशमूलक है; किन्तु इन विकृतियों के परिपार्श्व में रहकर भी मंजरी की उदात्त प्रवृत्तियाँ विकास पाती हैं और वह एक संतुलित एवं मांगलिक व्यक्तित्व निर्मित करने में समर्थ होती है। चरम असहायावस्था में उसने विकृतियों के स्वामी पारसनाथ को गले लगाया था। किन्तु उसकी स्वाभाविक प्रतिभा क्रमशः यथार्थ का स्वरूप उसके समक्ष उद्घाटित कर देती है और वह उस स्थिति में पहुंचती है; जहां अपने ही पैरों पर खड़ी होकर दृढ़ता के साथ वह पारसनाथ को स्वयं से दूर कर सके और अपना पथनिर्देश स्वयं कर सके। यही नहीं, शिक्षा के व्यापक महत्व को समझकर, आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण के आदर्श भी, उसमें प्रस्फुटित होते हैं और उसे समाज के उन्नयन की अग्रणी नायिका का स्वरूप प्रदान करते हैं। मनुष्य की प्रकृति में उपस्थित मांगलिक तत्वों की यह शक्ति मानना जोशी जी के समस्त जीवनदर्शन में एक नये आशावाद का संचार करती है और आधुनिक मनुष्य की उस मूलभूत इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जो व्यापक संहार के तत्वों से आवेष्ठित होकर विश्वशान्ति और सार्वजनिक मंगल का मन्त्र जपती है

निर्वासित

कथानक :

"निर्वासित" उपन्यास में एक असफल प्रेमी कवि के जीवन को विशेष महत्व दिया गया है। खन्ना परिवार की तीन बहिनों से उसका प्रणय व्यापार चलता है परन्तु वह एक असफल कवि ही रहता है। प्रथम वह आई० ए० एस० की परीक्षा देने का विचार करता है परन्तु किन्हीं कारणों से वह परीक्षा देना स्वीकार नहीं करता। टैगोर टाउन में राष्ट्रीय जलसे में प्रतिमा और नीलिमा से उसकी भेंट होती है।

कानपुर जाने का विचार छोड़कर वह खन्ना परिवार से मिलता है। नीलिमा से वह प्रणय की आशा रखता है अतएव रात्रि में किसी सफेद खद्दरधारी व्यक्ति से उसका वार्तालाप उसे विशेष कष्टदायक प्रतीत होता है।

महीप के आते ही विभिन्न व्यंग्यावलियों से उसका स्वागत किया जाता है; क्योंकि वह दो वर्ष बाद उस परिवार में आया है। इसी बीच ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से उसका परिचय होता है। ठाकुर साहब और महीप दोनों मित्र बन जाते हैं। महीप को ठाकुरसाहब अपने घर ले जाते हैं। यहां उसका परिचय शारदादेवी, धीराजसिंह आदि से होता है। धीराज और ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह के बीच में रूपा सम्बन्धी संघर्ष है। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह धीराज के प्रति कुछ अन्याय कर रहे हैं इसका परिचय वहां मिलता है।

श्रीमती खन्ना ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह का विवाह नीलिमा से करना चाहतीं हैं; परन्तु नीलिमा का स्पष्ट अभिमत प्रतीत नहीं होता। नीलिमा महीप की कविताओं से विशेष प्रभावित है, परन्तु उसका बालोचित व्यवहार और स्वरूप उसे कष्टकर प्रतीत होता है। नीलिमा की विचित्र मानसिक स्थिति का वर्णन विशद रूप में है।

महीप को धीराज से परिचय होने पर यह ज्ञात होता है कि ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह ने धीराज और रूपा के बीच एक दीवार खड़ी कर दी है। ठाकुर साहब नहीं चाहते हैं कि रूपा और धीराज आपस में मिलें। रूपा के रहते हुये भी यह संभव प्रतीत नहीं होता है कि ठाकुर साहब नीलिमा से विवाह करेंगे; ऐसा धीराज का कथन है। परन्तु विवाह की तिथि भी निश्चित हो जाती है। महीप और नीलिमा एक दिन एकान्त में मिलते हैं। विवाह सम्बन्धी चर्चा चलाकर वह महीप का विचार भी जानना चाहती है। परन्तु महीप नीलिमा के समक्ष जब अपने विचार रखना चाहता है, तब वह उसे अनसुनी

कर देती है।

धीराज और महीप के पर्यटन से लौटने पर उन्हें ठाकुर साहब के यहां नीलिमा श्रीमती खन्ना आदि मिलते हैं। रूपा की उपस्थिति धीराज का चित्त प्रसन्न करती है। कविता के तीव्र विरोध में पार्टी समाप्त हो जाती है। विवाह के दिन नीलिमा प्रातःकाल से ही अस्वस्थ होने का बहाना बना लेती है; परन्तु महीप के आने पर प्रसन्न हो उठती है। शारदा देवी महीप को एक दिन सूचित करती हैं कि उसकी कविता के भक्त केवल दो व्यक्ति हैं; धीराज और प्रतिमा। धीराज की मृत्यु इसी बीच ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह के षड्यन्त्र से हो जाती है। नीलिमा के सम्बन्ध में शारदा देवी अपना कोई मत स्थिर नहीं करती हैं। नीलिमा इस बीच मिलती भी है तो बुधवार के शाम को मिलने का वचन मांगती है। बुधवार की सन्ध्या को नीलिमा का भावावेश अधिक बढ़ जाता है और वह महीप के साथ भागने की तैयारी कर लेती है, परन्तु स्टेशन पर टिकिट खरीदते ही उसकी मानसिक स्थिति बदल जाती है और वह विलाप करने लगती है। बाद में पुलिस के साथ घर वापस लौटती है।

ठाकुर सा० बाहर किसी कार्य से जाते हैं और आ भी जाते हैं। इसी समय नीलिमा के पास गुमनाम पत्र आता है, जिसमें ठाकुर साहब की काली करतूतों का पूरा चिट्ठा रहता है। वह एकान्त में मिलने पर उनसे इसका उल्लेख भी करती है; परन्तु ठाकुर साहब अपने पक्ष समर्थन के लिए एक डायरी सौंप जाते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि धीराज अपनी अतृप्त प्रणयानुभूति के कारण संसार से निर्वासित होकर अनिश्चित दिशा में भटक रहा है।

नीलिमा और ठाकुर साहब का विवाह हो जाता है। परन्तु नीलिमा का जीवन सुखी नहीं रहता है। नीलिमा अपमानित की जाती है। तब तक महीप उस स्थान से प्रस्थान कर जाता है। प्रतिमा भी महीप के

क्रान्तिकारी दल में आ जाती है। प्रतिमा का लक्ष्य महीप ही था, परन्तु एक दिन, सभा में वह अपनी विचित्र स्थिति से तंग आ जाता है और उस दल विशेष को छोड़ना चाहता है। नीलिमा अपमानित होकर लखनऊ आती है; परन्तु उसका जीवन पूर्ण कष्टमय हो जाता है। महीप नीलिमा से मिलता है और पुनः व्यवस्थित जीवन आरम्भ करने की प्रेरणा देता है, परन्तु असफल रहता है।

शारदा देवी का पत्र पाकर वह उस स्थल पर पहुंचता है, जहां पर रात्रि को ठाकुर साहब के मकान में आग लगा दी जाती है। प्रतिमा और शारदादेवी का विद्रोहात्मक रूप वहाँ प्रस्तुत मिलता है। महीप ठाकुर लक्ष्मीनारायण की असहायावस्था में सहायतार्थ जाता है; पर पीछे से घायल कर दिया जाता है। ठाकुर साहब के कहने पर पुलिस के कर्मचारी उसे दोषी ठहराते हैं, वह एक ऐसे कैदखाने में रखा जाता है, जहां रक्त शोषक जीव समाज शोषकों की अपेक्षा अधिक शक्तिवान थे। काँग्रेसी मंत्रीमडल की स्थापना से कैदियों को रिहाई मिलती है; पर महीप इसके पूर्व ही परम मुक्ति पा चुका था।

पात्र :

'निर्वासित' उपन्यास में पात्रों की संख्या पूर्ववर्ती उपन्यासों की अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है। पात्र विभिन्न समस्याओं का उद्‌घाटन करते हैं, परन्तु उनका समाधान पूर्ण रूप से नहीं होता है। प्रकृति दत्त गुणों से कतिपय पात्रों का स्वस्थ विकास नहीं मिलता है। प्रमुख पात्र महीप, नीलिमा, प्रतिमा, रूपा, शारदा देवी, ठाकुर लक्ष्मी-नारायण सिंह और धीराजसिंह हैं। इन पात्रों की मानसिक स्थितियाँ एक सी मिलती हैं। इन कारणों से उन्हें निम्नश्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। १. प्रताड़ित पात्र, २. शोषित पात्र, ३. निर्द्वन्द्व पात्र. ४. आभिजात्य वर्ग के पात्र।

१. चरित्र चित्रण की दृष्टि से इन समान स्वभाव वाले पात्रों की चर्चा करना अभीष्ट होगा। महीप, धीराज और रूपा प्रताड़ित पात्र के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इन पात्रों का जीवन लक्ष्य उच्च है और उसकी प्राप्ति के लिए ये संघर्ष भी करते हैं, परन्तु असफल ही सिद्ध नहीं होते बल्कि अपना सर्वस्व खो भी बैठते हैं।

महीप एक सुन्दर, होनहार, छोटे कद का युवक कवि है। उसका बालोचित रूप उसके साथ सर्वत्र रहता है। नारी से वह प्रणय की आकांक्षा करता है परन्तु मिलता उसे केवल वात्सल्य ही है। रमा और सुषमा खन्ना परिवार की प्रथम दो लड़कियों से वह प्रणय निवेदन कर चुका है परन्तु इस बालरूप ने उसे सफलता के स्थान विफलता ही दी है। विफलता प्रसूत निराशा ही उसे दो वर्ष के लिए आज्ञातवास को प्रेरित करती है। वह आई० ए० एस० की परीक्षा का भी विचार त्याग देता है। टैगोर टाउन के जलसे से वह नीलिमा की ओर विशेष आकृष्ट होता है। पर उससे बातचीत करने वाले खद्दरपोश व्यक्ति से उसे अधिक घृणा होती है। यही व्यक्ति प्रातःकाल खन्ना परिवार के भावी दामाद निकलते हैं। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह नीलिमा में विशेष दिलचस्प हैं; इससे महीप को आघात पहुंचता है। महीप का वीरोचित शिशु रूप अपना संपूर्ण विकास नहीं कर पाता, अतएव उसमें विकृति आती जाती है। कवि होने के नाते वह प्रेम और क्रान्ति की आग उगल कर नारियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है। जीवन के सब क्षेत्रों में प्रयुक्त उसकी सत्ताकांक्षा की प्रवृत्ति विशेष है। इस प्रवृत्ति के स्वस्थ रूप में विकसित न होने पर महीप का व्यक्तित्व पूर्ण बदल जाता है। वह नीलिमा से प्रणय की आशा करता है, पर उसका विवाह ठाकुर लक्ष्मीनारायण से हो जाने पर उसका हृदय टूट जाता है, वह क्रांतिकारी दल का निर्माण करता है,परन्तु उसकी आकांक्षा की अभिव्यक्ति वहां भी पूर्ण रूप

मे नहीं हो पाती। प्रतिमा सदृश विशिष्ट कार्यकर्ता भी उसके मन के संघर्ष को दूर नहीं कर पाते। नीलिमा की ठाकुर साहब द्वारा त्याज्य स्थिति में वह अपना प्रणय पुनः निवेदित करता है; पर नीलिमा की क्षमा और शारदादेवी का पत्र उसे अन्य कार्य के लिए प्रेरित करता है।

महीप पत्र के द्वारा निर्देशित स्थान पर पहुंचता है तो ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह के भवन में आग प्रज्वलित पाता है। वह विद्रोहियों के दल में प्रतिमा और शारदादेवी को देखकर आश्चर्य करता है। ठाकुर साहब की सुरक्षा के लिए वह भीतर की ओर जाता है पर बीच में ही घायल कर दिया जाता है। ठाकुर लक्ष्मीनारायण की कुदृष्टि का वह शिकार बनता है और जेल में भयंकर कीटाणुओं की यातनाएं सहकर समाप्त हो जाता है। महीप के प्रणय यहाँ जयसिंह के 'बौना प्रेमी' उपन्यास के नायक सदृश है, जो कभी व्यक्ति को आत्मिक शान्ति नहीं दे पाता।

उसे न प्रेम मिला और न मान सम्मान। आडम्बरी सभ्यता का वह विशेष पक्षपाती न था। उसके आदर्श सत्यता से ओतप्रोत थे और इसी कारण वह छल-प्रपंच वाली दुनिया से निर्वासित था।

धीराज भी किसी प्रकार से रूपा का सामीप्य पा चुका था। रूपा और धीराज का प्रणय व्यापार अस्पष्ट रूप में उपन्यास में व्यक्त हुआ है। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह इसमें बाधक हैं। धनी परिवार के होने के कारण रूपा के पिता की मृत्यु के बाद उसके संरक्षक बना दिए जाते हैं। महीप और धीराज की मित्रता अधिक रहती है। दोनों किसी न किसी पात्र से प्रताड़ित हैं। धीराज की यह हीनता की प्रवृत्ति उसे अधिक घातक होती कि वह न्यायोचित कार्य के लिए भी सक्रियता का प्रदर्शन नहीं करता। शारदादेवी के शब्दों में: "धीराजसिंह में एक भारी कमी यह रही कि वह दृढ़ स्वभाव वाले नहीं थे। जिस बात को वह न्यायोचित समझते थे उसे दृढ़ता से अपनाने की शक्ति उनमें कभी

नहीं रही।[१]" प्रेमी प्रबल है परन्तु समाज के शोषक उसके प्रणय को पल्लवित नहीं होने देते हैं। कल्पना के लोकों में भ्रमण करने वाला ठाकुर लक्ष्मीनारायण के षड्यंत्र का शिकार बनता है। पर विवशता उसे मन के विरुद्ध कार्य करने को प्रेरित करती है, यह उसकी डायरी से स्पष्ट होता है। वह उस वास्तविकता के जीवन को अधिक महत्व देता है जिसमें छल-छद्म और बाह्याचार नहीं है। उसका मूलमंत्र पलायनवादिता नहीं बल्कि वास्तविक जीवन के प्रति निष्ठा है और इसी निष्ठा को लक्ष्य में रखकर वह अपने प्राण खोता है।

रूपा का चरित्र विशेष उभर कर नहीं आता है। वह परिस्थितियों की दास है। धीराज से उसे वास्तविक प्रेम है; परन्तु ठाकुर साहब की शोषणवृत्ति की वह अनुगामिनी बनी रहती है। वह शारदा देवी की प्रतिहिंसा से परिचित है। प्रताड़ित पात्र के रूप में वह उपन्यास में सर्वत्र दिखती है, जिसकी स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी है और हृदय शुष्क हो गया है। मृत शरीर को लेकर केवल वह जीवन-भार वहन करती है।

२. दूसरे प्रकार के पात्रों में नीलिमा, शारदादेवी और श्रीमती खन्ना भी हैं। इन पात्रों में गर्व की वह दीप्ति मिलती है जो किसी समय इनके अधिकारों में विराम लेती थी परन्तु शोषित कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि आभिजात्य वर्ग के व्यक्ति द्वारा इनके जीवन को निस्सार बना दिया गया है। नीलिमा का प्रारंभिक जीवन चंचलता एवं वाक्पटुता से पूर्ण मिलता है। ठाकुर साहब की नीति नीलिमा के विवाह में अधिक प्रबल दिखती है, जिसका अमिट प्रभाव श्रीमती खन्ना पर पड़ता है। महीप का असफल प्रणय नीलिमा में सहारा पाता है। वह ठाकुर साहब के समक्ष बाह्य सभ्यता के जीवन में व्यवहृत होती है; पर महीप की प्रवृत्तियों का परिचय होने से उसके

१. निर्वासित ; पृ० १८०।

समक्ष प्रकृत रूप में आती है। मां की इच्छा को पूर्ण करने के लिये वह विवाह करती है। संतुलित मस्तिष्क की होते हुए भी वह विवाहोपरान्त असंतुलन प्राप्त करती है। महीप के साथ स्टेशन तक जाने में वह उन्माद की अवस्था में रहती है। महीप का सम्मोहन और उसकी उन्माद की अवस्था, टिकिट खरीदते समय दोनों हवा हो जाते हैं। वह विलाप करना प्रारंभ कर देती है। पुलिस कर्मचारी से छुटकारा पाने के लिए वह महीप को अपना पति भी बना लेती है; जो उसके अचेतन की भावना का प्रदर्शन मात्र था। महीप का वीरोचित शिशु रूप और (ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह की सम्पत्ति से प्रभावित) मां की तीव्र इच्छा ने उसके जीवन क्रम को बदल दिया। सुशिक्षित होने के कारण ठाकुर साहब के व्यक्तित्व से उसकी टक्कर होती है। पर दुर्दमनीय प्रवृतियो का दास उसे अपने प्रचण्ड रूप से कुचल देता है। अपमान की अवस्था में वह ठाकुर साहब का घर छोड देती है।

नीलिमा एक उच्चादर्श को प्रस्तुत करती है जिसमें दो व्यक्तियों का साहचर्य तो संभव है पर सामाजिक संधि नही। मां की प्रसन्नता के लिए उसने बाल्यकाल से प्रयास किया और अपने जीवन को शुष्क बनाकर भी लक्ष्य पर दृढ़ रही। जीवन के पूरक पक्ष से वह पूर्णतः निर्वासित रहती है।

शारदादेवी का चरित्र भी एक धधकती हुई अंतराल की विद्रोहाग्नि से पूर्ण है। वह शोषित पात्र के रूप में उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक अपनी स्थिति का प्रदर्शन ही करती है। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से उनका विशिष्ट सम्बन्ध रहा है। ठाकुर साहब की पशुता के कारण विरचित उनका चीमड़ जैसा मुंह महीप के कतिपय कार्यों पर चमक उठता है। धीराज की मृत्यु का कारण वह जानती है, साथ ही, महीप के साथ पूर्ण किए जाने वाले व्यवहार से भी असंतुष्ट हैं। क्रांतिकारी विचारधारा उन्हें प्रतिमा के साथ क्रान्तिकारी

दल के निर्माण करने में अधिक सहायक होती है। वह ठाकुर लक्ष्मी-नारायण सिंह के भवन में आग लगाने में भी नहीं चूकती है। उनकी क्रान्ति का यह प्रचण्ड रूप वर्षों की ज्वलन के पश्चात् प्रस्फुटित होता है। रूपा और शारदादेवी के चरित्र और वृत्तियों में अन्तर केवल वय का है। रूपा का सक्रिय भाग नहीं मिलता है; पर शारदादेवी अपने स्वाभाविक रूप में उपन्यास में हमारे समक्ष आती है।

श्रीमती खन्ना सुशिक्षित परिवार की महिला है। लड़की के भविष्य के लिए वह अपनी इच्छा से कार्य करती है जो नीलिमा के जीवन को कटंक बन जाता है। वह आत्म गौरवशाली, अभिमानी और उच्च विचारों की महिला है। परन्तु ठाकुर साहब के संपर्क में जाने पर उनका वह रूप बार बार नहीं मिलता, जो महीप और नीलिमा के पुलिस कर्मचारी के साथ आने पर मिलता है। श्रीमती खन्ना संरक्षक का ही कार्य पूरा करती हैं।

३ तृतीय श्रेणी में एक ही पात्र है—प्रतिमा—संपूर्ण उपन्यास में अद्वितीय। प्रतिमा सम्पूर्ण उपन्यास में प्रारंभिक रूप में ही चित्रित की गई है। उसका चरित्र एक ऐसे व्यक्ति का है जो निष्पक्ष और निडर है। वह ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह ही नहीं वरन् किसी अंश तक महीप पर भी व्यंग्य प्रहार करती है। निर्द्वन्द्वता उसका गुण है। महीप को वह अपना चरम आदर्श मान लेती है। परन्तु इस समय तक महीप उस दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देता है जिसकी वह सराहना करती रही है। महीप की कविताओं को वह विशेष महत्ता देती है और उसी के लिए क्रान्तिकारी दल में भी सक्रिय भाग लेती है। नीलिमा की अपेक्षा वह अधिक सक्रिय प्रतीत होती है। अपनी बहिन के प्रति किए गए अत्याचार का प्रतिशोध वह ठाकुर साहब के भवन में आग लगाकर लेती है और चाहती है कि उसमें ठाकुर साहब का विनाश हो। इस प्रकार प्रतिमा एक स्वस्थ, सुन्दर और निद्वद्वं नारी पात्र है जिसमें कर्मण्यता हैं

और जो आधुनिक नारी का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

४ ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह का चरित्र एक विद्वेषी, स्वार्थी और अभिमानी पुरुष का है। लोलुपता और लंपटता उसके गुणविशेष हैं, जिनकी पराकाष्ठा नीलिमा के प्रति किये अत्याचार में मिलती है। चतुर्थ श्रेणी के पात्र को हमने शोषक वर्गीय पात्र दिया है। शोषकवर्ग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का केन्द्रीकरण ठाकुर लक्ष्मीनारायण में मिलता है। नीति और व्यवहार से उसका बाह्य रूप सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु उस के कर्म उसकी अन्तःप्रकृति का द्योतन करते हैं। धीराज की हत्या में वह किस सावधानी से कार्य करता है, यह उसकी अन्य समस्त (जैसे शारदा देवी के प्रति अन्याय, रूपा के प्रति अन्याय) कार्यों की परिणति में स्पष्ट दिखता है। संक्षेप में, ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह दम्भी, स्वार्थी, कामी और लोलुप व्यक्ति है जो अपने कार्यों की सिद्धि येन केन प्रकारेण करता है।

मनोवैज्ञानिक आशय

"निर्वासित" जोशी जी के पूर्ववर्ती उपन्यासों की तुलना में कुछ भिन्न है। पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रधानतः एक असाधारण व्यक्तित्व को लेकर उसके उद्घाटन के हेतु से ही संपूर्ण कथा योजना की गई है। इस प्रकार का एक असाधारण व्यक्तित्व महीप के रूप में निर्वासित में भी उपस्थित है, किन्तु उपन्यास का आशय और कथानक का प्रसार महीप के व्यक्तित्व से कहीं आगे बढ़ जाते हैं। जो अन्य पात्र हैं, वे एक विशेष वर्ग के समाज की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। उनकी प्रवृत्तियों के निरूपण में उनकी सामाजिक प्रवृत्ति का प्रधान हाथ है। उनकी व्याख्या में किसी गहरे मनोविश्लेषण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनके कार्य सामाजिक दृष्टि से विकृत किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक हैं। इन पात्रों के बीच में महीप ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो असाधारण है और व्याख्या की अपेक्षा

रखता है।

"हीनता की भावना" और तज्जन्य महत्वाकांक्षा महीप की विशेषता है। उसका अहं भी विशाल है। उसमें अच्छी कोटि की कवित्व शक्ति है; किन्तु अपने "बबुआ रूप" के कारण उसे निरंतर विषम स्थितियों का सामना करना पड़ता है, जिसे वह प्रेयसी मानकर प्यार करता है वही उसके वास्तविक मनोभाव को जानने के पश्चात् हंस पड़ती है। अपनी प्रिया के द्वारा ही बालक समझा जाना, उसके मर्म पर उद्दंड आघात करता है। वह एक ऐसी हीनता का शिकार है, जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं और जिसका कोई उपचार नहीं। यह भावना उसके सामाजिक संबंधों और यहाँ तक कि उसके काव्य में भी विकृति ला देती है। कवित्व की स्वाभाविक प्रेरणा क्षतिपूर्ति का उपकरण बन जाने के कारण अपनी स्वाभाविकता खो देती है। वह प्रेयसी पर भी इसलिए विजय चाहता है कि इस प्रकार अपनी प्रौढ़ता सिद्ध कर सके। उसके चरित्र में अनेक उपयोगी और महत्वपूर्ण उपादान भी हैं, किन्तु वे सब हीनता के भाव से आच्छन्न हो जाते हैं। इस ग्रंथि से युक्त पूर्ववर्ती पात्रों की तुलना में महीप अधिक मानवी और निरीह है। वैचित्र्य के साथ वह अपने प्रति सहानुभूति भी जगाता है। एक प्रचड विस्फोटक और विनाशक सत्ता के रूप में सामने न आकर वह एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उपस्थित होता है, जो प्रकृति के द्वारा प्रवंचित है। जोशी जी का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण महीप में एक नई उपलब्धि प्राप्त करता है क्योंकि उसमें केवल मनोवैज्ञानिक नियमावली प्रदर्शित न होकर मनुष्य का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। जोशी जी का कोई अन्य पात्र पाठक की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं रखता। महीप दोनों कोटियों से भिन्न रहकर अपनी साधना में विफल होते हुए भी, स्नेह प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य में समन्वय :

यह कृति वर्ग में विभाजित समाज के शोषण और क्रान्ति दोनों पक्षों को प्रचुर अभिव्यंजना देती है। शोषको के श्रेष्ठ प्रतिनिधि ठाकुर लक्ष्मी-नारायण सिंह हैं। उपन्यास के प्रायः शेष सभी पात्र उनका शिकार बनने का अवसर पाते हैं। शारदा देवी, धीराजसिंह, नीलिमा आदि पात्रों की अवस्था अन्य शोषित वर्ग के व्यक्तियों के समान दिखती है। उनके यौवन को लूटा गया, अधिकारों से उन्हें वंचित होना पड़ा। इन सब कार्यों के भीतर अंतराल में छिपी विद्रोहाग्नि भी शनैः शनैः प्रज्वलित होती है। इस विद्रोहाग्नि से सर्वहारा वर्ग की असंतोषमय स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। कष्ट असह्य होने पर सर्वहारा वर्ग के व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का मनोविज्ञान इसमें निहित है।

उपन्यास में प्रदर्शित विद्रोह समाज के सृजनात्मक पक्ष का आह्वान करता है। समाज के ढांचे में परिवर्तन उसी समय होते हैं जब उसके व्यक्ति सृजनात्मक अंश से विमुख हो जाते हैं। सृजनात्मक पक्ष की पीठिका में प्रमुख है। शारदा देवी, प्रतिमा आदि समाज में नवीन व्यवस्था लाने के इच्छुक होते हैं

राजनीतिक विचार :

मनोवैज्ञानिक तथ्य के समन्वय के साथ राजनीतिक विचारो का समावेश इस उपन्यास में मिलता है जो अभी तक के व्यक्तिपरक उपन्यासों में नहीं था। इसका मूल 'प्रेत और छाया' में मिलता है। 'मंजरी' सदृश नायिका लोक कल्याण के कार्य को अपनाती है। शारदा देवी के विद्रोह में शोषक अथवा पूंजीपति वर्ग और शोषित अथवा सर्वहारा का संघर्ष स्पष्ट प्रतीत होता है। समाज में इस प्रकार के दल का आविर्भाव होना राजनीतिक जागृति की सूचना है।

: ८ :

परवर्ती उपन्यास

आवश्यक निर्देश :

आरम्भिक कृतियों का प्रौढ रूप 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित' में परिलक्षित होता है। सामाजिकता की ओर उन्मुख होने वाले तत्व भी इन कृतियों में शनैः शनैः समाविष्ट होते गए हैं। उपन्यास में केवल व्यक्ति की समस्याओं और विकृतियों का समावेश नही रहता है—उसकी व्यापक जीवनानुभूति का परिचय भी मिलने लगता है। सामाजिक तथ्यों के साथ ही कृतियों में राजनीतिक समस्याओ का गुम्फन स्पष्ट प्रतीत होता है। गांधीजी के प्रस्ताव को हम परवर्ती उपन्यासों में देख सकते हैं। गांधी-दर्शन के साथ ही व्यक्ति के बाह्य और आभ्यंतर का व्यवस्थापन कृतियो में बढ़ता ही गया है। "प्रेत और छाया" की मंजरी का डाक्टर रूप उस समय केवल लोक कल्याण की भावना से समन्वित कार्यों की झलक ही देता है। परन्तु पालन-कर्त्ता और आदर्श-व्यवस्थापक का स्वरूप "मुक्ति-पथ" में ही दिखता है।

नारी अथवा पुरुष की विकृति-पूर्ण-अवस्था यहाँ पर पूर्ण लुप्त हो जाती है। नायक और नायिका मानसिक स्वास्थ्य लाभ करते हुए समाज की प्रगति में तल्लीन दिखते हैं। "सम श्रम साधना" के आधार पर स्थापित निवेश की उन्नति सर्वोदय की नीति का स्मरण कराती है। पात्रों की मनोवृत्ति समाज के विद्रूप को दृष्टिगत करने की अपेक्षा उन्नतिशील समाज की कल्पना में रमती है। नारी स्वातन्त्र्य और सामा-

जिक उत्कर्ष इन कृतियों में विशेषत: मिलते हैं। राजनीतिक वातावरण नागरिकों की जागृत चेतना का संकेत करता है। "निर्वासित" की शारदा देवी और प्रतिमा की आत्माओं का सृजनशीलपक्ष परिमार्जित रूप में सुनन्दा के व्यक्तित्व में परिस्फुटित होता है। सुनन्दा की निष्पक्ष सेवा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुक्तिपथ में हम अब तक के उपन्यासो से भिन्न समस्या का उद्‌घाटन देखते हैं। यह समस्या लोककल्याण की है, जिसका मूल रूप "प्रेत और छाया" तथा "निर्वासित" में स्पष्ट था, पर मुक्तिपथ में वह सफल एवं स्पष्ट रूप में पाठको के समक्ष आया है।

मुक्तिपथ

'सन्यासी' सदृश जटिल वृत्ति का पात्र, प्रथम बार कर्मण्यता का सन्देश लेकर आता है। नायक स्वस्थ एवं विकृतियो से हीन है। उस की सक्रियता का आधार जन-कल्याण की भावना है, जिसकी विराट साधना वह करता है। नारी भी अपने प्रकृत रूप में नायक की अनुगामिनी है।

कथानक :

उपन्यास नायक राजीव वर्मा आधुनिक समाज का एक बेकार युवक है। जिसके पूर्व अनुभव अत्यधिक कटु रहे है। जेल जीवन से लेकर चौर्य कर्म करने वालों तक के अनुभव राजीव की स्मृति में हैं। वह लखनऊ के अमीनाबाद पार्क में टहल रहा था। अचानक 'वांटेड' शीर्षक पढ़कर वह प्रोप्राइटर के पास जाता है और उसकी अभद्रता से क्लेशित होकर उसे दो तमाचे भी जड आता है। लखनऊ में वह श्री उमाप्रसाद सक्सेना के यहाँ ठहरा हुआ है। 'सुनन्दा' नामक विधवा युवती से उमाप्रसाद जी बहिन का सम्बन्ध मानते हैं। राजीव का भी सुनंदा खाने पीने का उतना ही ध्यान रखती है जितना उमाप्रसाद जी का।

राजीव सुनन्दा में वह विश्वव्यापी जनकल्याण की भावना पाता है। उसकी परिसीमा से यह भावना पूर्ण स्वस्थ रूप में दृष्टिगत नहीं होती है। इसीलिए राजीव शनैः शनैः उसकी अन्तरात्मा में एक अमोघ संदेश (जागृति का) भर देता है। कृष्णा जी सुनन्दा के व्यवहार में अन्तर देख कर उसके हाथ से सब उत्तरदायित्व छीन लेती हैं। गृहस्वामिनी होने के कारण उन्हें मतानुकूल कार्य करने का अधिकार भी है। प्रमीला (इनकी लड़की) सुनन्दा और राजीव का पारस्परिक आकर्षण देखकर प्रतिदिन दोनों को टहलने ले जाती है। अपने विवाह के पूर्व वह इन दोनों का विवाह भी करा देती है। कार्य की खोज में भटकने वाला व्यक्ति, बढ़ई का काम करने लगता है। प्रमीला का विवाह राजीव के सहपाठी विजय से होता है। विजय और राजीव दोनों स्वभावतः उत्तर दक्षिण हैं।

नए घर बसाने के पश्चात् राजीव की उत्कट लालसा उपनिवेश बसाने की है। राजीव को लखनऊ से अत्यल्प दूरी पर एक बंजर भूमि अपने मित्र देशराज की सहायता से मिलती है। सुनन्दा और राजीव मंगल-कामना से अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं। उपन्यासकार ने वास्तविक सक्रियता का लोप कर दिया है। ढाई वर्ष पश्चात् का उपनिवेश एकदम हमारी आँखों के सामने आता है। सुनन्दा के जन-कल्याणी व्यक्तित्व के साथ ही मातृत्व पक्ष भी उभर पड़ा। अपनी योजना को सफलीभूत बनाने के लिए उसने अपने हृदय के आवेग को रोक लिया था, परन्तु वह भी कब तक ? अधिक वजन देने से हल्की वस्तु के निकलने का भय रहता है। सुनन्दा व्यक्ति पक्ष को भी महत्व देती है, परन्तु राजीव के समष्टि पक्ष को तिरस्कृत नहीं करती। इस कारण वह अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लेती है। राजीव भी अपने निवेश की महत्ता का आधार बाद में समझता है। प्रमीला भी निवेश में आ

जाती है। इस स्थिति तक सुनन्दा नव-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी।

पात्र :

प्रारम्भिक उपन्यासों में चरित्रों के रूप विशेष नहीं निखरे हैं। उनमें किसी न किसी विकृति या अभाव का समावेश रहा है। यह अभाव पात्र की मानसिक स्थितियों का स्वरूप बताता है। समाज कल्याण की भावना से प्रेरित राजीव उपयुक्त पात्र खोज रहा था और उसकी प्राप्ति होते ही वह अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा देता है। राजीव वर्मा, सुनन्दा और प्रमीला इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। सामाजिक तथ्य का उपन्यास में विशेष निर्वाह होने के कारण किसी पात्र विशेष के चरित्र को महत्व नहीं दिया गया है। सामाजिक कल्याण में आने वाले तत्वों की सृष्टि में सब का यथावत् योग है।

राजीव :

प्रारम्भिक उपन्यासों में वर्णित बलदेव, चन्द्रशेखर आदि ही गौण पात्र नायक के रूप में इस उपन्यास में आते हैं। प्रारंभिक कृतियों में दोनों व्यक्तियों के गुणों का इस नायक में समावेश है। नौकरी की खोज में निराश होने पर वह सोचता है। "सारे संसार को फूंककर यदि वह एक बार नये सिरे से उसकी रचना करने में समर्थ होता तो कम से कम वर्तमान युग के विश्वव्यापी मिथ्याचार की जड़ें तो नष्ट कर डालता।"[१] इस विद्रोह पूर्ण निराशा के भीतर स्थित पृष्ठभूमि, उसके अनुभवों को स्पष्ट करती है। वह एक कालिज का विद्यर्थी था। क्रान्ति की लहर के आते ही वह अपना अध्ययन आदि त्याग बैठा और अंडमान सदृश जेल भी हो आया। अब यह आवश्यक है कि उसका विद्रोह किसी भी प्रकार परितोष पावे। राजीव उपनिवेश की स्थापना करके अपने विद्रोह का उदात्तीकृत रूप प्रस्तुत करता है।

१. मुक्तिपथ: पृष्ठ ११.

वह स्वभाव से अध्यवासायी, संयमी, दृढ़प्रतिज्ञ और कठिन साधना के लिए तत्पर रहने वाला व्यक्ति है। भाषण कला में निपुण है, सुनन्दा के समक्ष उसका यह सबल व्यक्तित्व स्वभावतः हीन पड़ जाता है। पर उपनिवेश के कार्य में सुनन्दा की स्थिति राजीव के साथ एक मित्र की ही रहती है। जिसका पश्चाताप, उसे बाद में होता है। वह सम-श्रम साधना के आधार पर जिस निवेश की स्थापना करता है, वह व्यक्ति पक्ष को महत्वहीन सिद्ध करता है। इसीलिए वह उपन्यास में सुनन्दा सदृश पात्र से अपनी प्रकृति का साम्य आन्तरिक तल से न बना सका। कृच्छ्र-साधना का जो रूप हम राजीव में पाते हैं, वह विद्रोह का ही सृजनात्मक उपयोग है।

मां का स्वर्गवास और पिता की मृत्यु उसके एकांकी जीवन में एक निपट सामाजिकता का अभाव अनुभव करता है और जिसकी पूर्ति वह उपनिवेश में करने का प्रयास करता है। 'स्व' को मिटाकर वह 'पर' की साधना करना चाहता है, पर इस व्यवस्था के अभाव को भी अनुभव करता है। सुन्दर शरीर और व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के कारण मुक्तिपथ के राजीव में सेक्स सम्बधी भावनाओं से अतीव दूरी मिलती है। वह स्वस्थ सामाजिक नेता के रूप में पाठकों के समक्ष आता है।

सुनन्दा :

राजीव के कार्य में पूरक शक्ति का कार्य सुनन्दा का है। सुनन्दा हृदय पक्ष की सबलता के कारण ही गांव में "बुआ जी" बन गई और उसकी प्रसिद्धि राजीव से भी अधिक हो जाती है। उपनिवेश में ही सुनन्दा की सक्रियता दृष्टिगोचर होती है। इसके पूर्व, वह केवल समाज द्वारा निर्णीत विधवा है; जिसका कार्य क्षेत्र सीमित है भले ही उसमें विश्व कल्याण के सृजनशील तत्व वर्तमान हों।

समाज से पूर्ण बहिष्कृत पात्र होने के कारण उसका स्पष्ट रूप

सामने नहीं आ पाता है। राजीव के सुन्दर भाव जगाने से उसके हृदय पर एक विशेष प्रतिक्रिया होती है। वह कल्पना के आनन्द में विभोर हो जाती है। राजीव, उसे उमाप्रसाद के परिवार तक सीमित रहने की अपेक्षा बन्धन मुक्त होने की प्रेरणा देता है, तिस पर वह कहती है, "आप सब जानते हुए यह क्या आदेश मुझे दे रहे हैं ? मुझ अनाथिनी को आप किस अछोर और अकूल की ओर खींच ले जाना चाहते हैं ? मुझ अबला और असहाया नारी को इस सकरी चहारदीवारी के भीतर गलने दीजिए।"[1] इस दीन भावना का राजीव के सबल व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह राजीव की अनुगामिनी हो जाती है। आत्म-प्रकाश-हीन व्यक्ति ही इस प्रकार की बात कह सकता है। राजीव से उसने जिस जीवन की अपेक्षा की थी, वह उसे अन्त तक नहीं मिला। नारी की कामना मातृत्व का आदर्श प्राप्त करने की रहती है। राजीव के सामीप्य में भी वह इससे वंचित रही, अतएव उसे उपनिवेश का कार्य छोड़ना पड़ा और अपनी मानसिक स्थिति को भी संतुलित रखने के लिए हृदय पक्ष को प्रधानता देना पड़ी। समाज ने जिस हृदय को बंजर रहने के लिए बाध्य किया था, वही अवसर पाकर पुनः पल्लवित होता है और उसे यदि समुचित परितोष और विकास नहीं मिलता है; तो उससे अधिकाधिक हानि की संभावना रहती है। सुनंदा अपने शुष्क हृदय को पुनः लहलहाते देखने के लिए लालायित थी, समाज ने उसे विधवा घोषित कर उसकी जीवन-धारा का संकुल मार्ग निश्चित कर दिया, पर राजीव की प्रेरणा से वह उस आदर्श की प्राप्ति करने में समर्थ हो गई। परन्तु हृदय पक्ष को परितोष न मिलने पर उस अतृप्त वृत्ति का विद्रोही होना स्वाभाविक था। सुनन्दा अपने वत्सल स्वभाव का प्रदर्शन 'स्व' पर केन्द्रित करके न कर सकी और इस कारण उसे उपस्थित परिवेश से आगे बढ़कर अपने योग्य परिवेश के निर्माण में संलग्न होना पड़ा।

१. मुक्तिपथ: पृ० ११६.

संक्षेप में सुनन्दा में उन्हीं सभी गुणों का समावेश है जिनका अस्पष्ट रूप हम शान्ति, मंजरी, शीला आदि में देखते हैं। इनके सृजनशील व्यक्तित्व की चरम-परिणति सुनन्दा में मिलती है। यौन सम्बन्धी भावनाओं का परिष्कार इस उपन्यास से प्रारंभ होता है, सुनन्दा सदृश नारियों में उसका सम्पूर्ण अभाव है।

प्रमीला :

'निर्वासित' की 'प्रतिमा' के सम्पूर्ण गुण प्रमीला में मिलते हैं। प्रमीला आधुनिक युग की नारी है जो नारी के अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझती है। मुक्ति निवेश में सक्रिय भाग प्रमीला का है। वह उच्चादर्शों से प्रेरित है। विधवा को नारी नहीं बनाती प्रत्युत उसे मानवी के कर्तव्य पथ पर अग्रसर करती है। स्वभाव में दृढ़ता, वार्तालाप में व्यंग्य और विनोद तथा कर्म में निष्ठा यह सब गुण प्रमीला के विचित्र आभूषण हैं। वह विजय से विवाह इसलिए करती है कि उसके सदृश लोभी और दम्भी व्यक्ति को उसे चिढ़ाने में आनन्द आता है। जोशी जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में नायक इस वृत्ति के शिकार हैं कि वे नायिका से विवाह इसलिए करते हैं, कि वह उसकी दाम्भिकता और सौम्यता को चूर कर सके। यहाँ यह वृत्ति किसी अंश में प्रमीला में पाई जाती है। वह कहती भी है; "अगर सच पूछो तो बुआ, मैं इस विवाह के लिए राजी यह सोचकर हुई थी कि मुझे एक आदमी ऐसा मिल गया है जिसे मैं जी भर कर चिढ़ा सकती हूँ, जिस पर तीखे व्यंग्य कस सकती हूँ और जो मेरे उन व्यंग्यों को अन्त तक प्रेमपूर्वक सहन करने की समर्थता रखता है।" [१] विजय से विवाह के पश्चात् उसकी आदतों का एवं कार्यों का रहस्योद्घाटन होने पर वह आत्महत्या कर लेता है; तब उसे पश्चाताप होता है और वह कहती है, "मैं सोच ही न पायी कि अपनी इस बचकानी खामख्याली की पूर्ति के

१ मुक्तिपथः पृ० ३७६.

लिए मैं अपने सारे जीवन को ही दांव पर लगाए जा रही हूँ।"

संक्षेप में, प्रमीला सुसंस्कृत परिवार की एक लड़की है, जो शिक्षित होने के साथ ही फैशन को अधिक महत्व नहीं देती। वह दृढ़प्रतिज्ञ और कर्मण्य है। त्याग की मूर्ति प्रमीला अपने जीवन के दांव को अनजाने में ही लगा बैठती है। वह विजय की मृत्यु के बाद समस्त धन समाज के कल्याण में व्यय करती है। राष्ट्र-व्यापी सर्वतोन्मुखी जन-कल्याण की चेतना में प्रमीला सदृश नारियों का स्वर ही सुनन्दा का आधार था।

विजय :

परिस्थितियों से प्रताड़ित इस पात्र को लेकर जोशी जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मनुष्य वातावरण को प्रधान मानने पर एक विचित्र विकृति का शिकार होता है। विजय की परिस्थितियों ने विद्यार्थी जीवन से, उसे यह पाठ दिया कि वह धन का अपव्यय, अन्य व्यक्तियों के समान उद्देश्यहीन होकर न करें। प्रमीला से विवाह का इच्छुक है, पर अपने स्तर से अधिक व्यय करना उसे अभीष्ट नहीं है। प्रमीला उसकी मनोवृत्ति पहचान लेती है। विवाहोपरान्त वह अपने विचारानुसार व्यय करती है, जिससे उसके हृदय में ठेस पहुँचती है। उसके कर्मों की खोखली आकृतियां, उसे समाज में निम्न बना सकती हैं; अतएव विनोद को वह विनोद न समझकर सत्य समझ लेता है और आत्महत्या कर बैठता है, जो उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। जीवन में संतुलन से रहना उसका लक्ष्य नहीं रहा है।

राजीव और विजय दोनों सहपाठी रहे हैं। भेंट होने पर दोनों में व्यंग्य वाक्यावलियों का प्रयोग भी होता है। राजीव के समक्ष विजय का व्यक्तित्व हेठा जान पड़ता है। विजय की प्रवृत्तियों को दृष्टिगत करते हुए यही कहा जा सकता है कि वह उच्चाकांक्षी है; परन्तु समाज में अपने अनैतिक कार्यों में रत होने का पर्दाफाश नहीं होने देना

चाहता है। संक्षेप में, वह स्वार्थों के प्रति क्षिप्र, राजनीतिक एवं अवसर-वादी आधुनिक मनुष्य का प्रतिनिधि है : विजय की वृत्ति का विश्लेषण राजीव की विचारणा में निम्नलिखित है ? "जिस प्रकार लोकपक्ष का कोई भूत किसी तहखाने के भीतर के तहखाने में कई पुश्तों से गड़े हुए धन को अडिग, विराट पाषाण खंडों से दबाकर''सुख का अनुभव करता है, ठीक वही अनुभूति विजय के मन में भी एक विचित्र मोहकता का संचार करने लगी।'

नवीन उद्भावना :

उपन्यास कला में वह अस्पष्टता एवं शिथिलता प्राप्त नहीं होती है, जो प्रारम्भिक उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। यौन-वृत्तियों एवं मानसिक ग्रंथियों से उत्पन्न समस्याओं का ह्रास हो जाता है और व्यक्तित्व के सबल पक्ष का उभार होता है।

डा० देवराज उपाध्याय का कथन है, "मुक्तिपथ जोशी जी का इधर का नया उपन्यास है। इतना अवश्य है कि इसमें लेखक कथा कहने की प्रवृत्ति में वर्णनात्मकता, प्रेमचन्दी रंग-ढंग की अभिवृद्धि मालूम पड़ रही है। आधुनिक मनोविश्लेषण की गहरी छानबीन के द्वारा मानसिक स्तरों को उघाड़कर दिखलाने की चेष्टा कम की गई है।"[२] साथ ही वे कहते हैं कि "मानव की चाहे किसी तरह की घटना क्यों न हो बड़ी से बड़ी या छोटी से छोटा (महतो महीयान, अणोरणीयान) सबके मूल में मानव की कुछ मौलिक प्रवृत्तियां होती हैं।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि 'मुक्तिपथ' में मनोवैज्ञानिक पक्ष लेकर समस्या का समाधान देने की प्रवत्ति समाप्त हो गई और

१ मुक्तिपथ: पृ० १०७।

२ डा० देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० २४६.

३ डा० देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान पृ० २४६.

प्रकृत रूप में विद्यमान रहने वाली प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है और उनके परितोष का अप्रत्यक्ष संकेत भी है। सुनंदा का हृदय पक्ष राजीव की कृच्छ्रसाधना में शून्य रहता है। वह प्रमीला से कहती है, "कई पीढ़ियों से बंजर पड़ी हुई जमीन तुम्हारे राजीव बाबू के दुर्दम कर्मोद्यम से आज लहलहा रही है। पर मेरे भीतर की जमीन एकदम सूखी और सूनी पड़ी है। बालू केवल बालू। पानी की बूंद भी कहीं नहीं है—हरियाली की कौन कहे।"[1] इन सबसे यही संकेत मिलता है कि जोशी जी इस कृति में बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष का समन्वय करते प्रतीत होते हैं, जिसका उल्लेख उन्होंने 'मुक्तिपथ' की राही सुनंदा के अतृप्त कथन में निहित किया है। चरित्रों की सक्रियता, व्याख्या भाग की अपेक्षा अधिक है।

सुबह के भूले

"मुक्तिपथ" तक उपन्यास में केवल युवक पात्र और पात्रियों का ही चित्रण है। 'सुबह के भूले' में प्रथम बार नायक और नायिका को उनके जन्म से यौवन तक विकसित दिखाया गया है। इस जीवनांश में निहित कतिपय चेष्टाओं का सुन्दर विवरण स्पष्ट मिलता है। अभी तक आभिजातवर्ग के नायक नायिका (मुक्तिपथ को छोड़कर) उपन्यास की कथावस्तु के वाहक बनते थे, पर अब सामान्य और मध्यवर्ग के व्यक्तियों को भी प्रश्रय दिया गया।

कथानक :

संपूर्ण उपन्यास में एक दूधवाले की लड़की गुलबिया (गिरिजा) और उसके साथी किशन के प्रारंभिक जीवन की कथा है। गिरिजा की विधवा मां बैजनाथ नामक व्यक्ति द्वारा बम्बई लाई गई थी। उस समय गिरिजा तीन वर्ष की थी। बैजनाथ और महावीर सच्चे मित्र थे।

---

१ मुक्तिपथ: प० ३८७।

गिरिजा का संबंध नये पिता की अपेक्षा चाचा (महावीर) से घनिष्ठ होता है। बैजनाथ की मृत्यु महावीर को भारग्रस्त करती है। वह झमिया (गिरिजा की मां) और उसकी गायों की देख-रेख करता है और अपने व्यापार के समान ही उसके दूध के व्यापार में कमी नहीं होने देता। कुछ समय पश्चात् सम्मिलित डेयरी खोल लेता है। गिरिजा के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वह अल्प समय में अच्छा ज्ञानार्जन कर लेती है और कालेज की शिक्षा ग्रहण करने लगती है। पर उसका साथी किशन केवल प्रारंभिक शिक्षा तक ही सीमित रहता है। इस बीच गिरिजा का संबंध कतिपय धनी वर्ग की सहेलियों से होता है, पर उनकी जुगुप्सा उत्पादक अशिष्टता उसे कष्ट देती है। वह दूध वाले की लड़की है अतएव सब उससे दूर रहते हैं।

हेमकुमार नामक अभिनेता उसे इस प्रदर्शन के संसार से उठाकर एक अन्य जगत में ले जाता है। फिल्मी संसार में गिरिजा की अपूर्व उन्नति होती है। वह परीक्षा कार्य से निवृत्त होकर अपने चित्र की निर्मिति में संलग्न होती है। प्रथम चित्र स्वल्प विलम्ब से प्रशंसा पाता है; पर बाद के चित्र अद्‌भुत सफलता का उद्‌घोष करते हैं। गिरिजा अभिनेत्री से निर्मात्री और निर्देशक भी बन जाती है। चित्रों के स्तर और संगीत की श्रेष्ठता की ओर उसका विशेष ध्यान रहता है। अंतिम चित्र "अखंड ज्योति" में वह अपने जीवन साथी किशन को प्रधान नायक की भूमिका का कार्य देती है। विभिन्न आक्षेपों के बावजूद भी वह चित्र सर्वप्रथम रहता है। इसी समय झमिया की मृत्यु हो जाती है। दोनों चित्र की सफलता के दिन मां को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और वैवाहिक बंधन में ग्रथित होते हैं।

पात्र :

इस उपन्यास में केवल एक पात्र ही विशेष महत्वपूर्ण है, वह है

'.गरिज.' । गिरिजा के नायिका होने के कारण नायक किशन की आवश्यकता प्रतीत होती है । गिरिजा साधारण परिवार की होते हुए भी एक महत्वपूर्ण पात्र है । उपन्यास के पूर्वार्द्ध में महावीर और झमिया के चरित्र विशेष उभरे हैं परन्तु सर्वत्र गिरिजा की पृष्ठभूमि अथवा वातावरण संबंधी उद्‌भावना ही है ।

गिरिजा :

'सुबह के भूले' में गिरिजा एक पथिक है, जो आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जीवन को विकसित करने वाले स्वाभाविक मार्ग का रास्ता भूल चुकी है; परन्तु यथार्थता जानते ही वह अपने प्रकृत मार्ग का अवलम्बन करती है और उसके जीवन में जो शुष्कता, संघर्ष आदि का समावेश हो गया था, उससे विरत होती है और अपने साथी को पहचानती है । गिरिजा के चरित्र में उपन्यासकार ने उन सब गुणों का समावेश किया है जो एक विकासोन्मुख युवक अथवा युवती के लिए आवश्यक हैं । वह परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझती है और उनके अनुकूल कार्य करने की विधि भी जानती है । किशन उसका अंतरंग मित्र है और यह मित्र जीवन के उन क्षणों में उससे विलग हो जाता है, जब वह शिक्षा के क्षेत्र में, उससे आगे बढ़ जाती है । इसी का सम्पूर्ण विवरण उपन्यास में दिया गया है । गिरिजा की सुस्वभावगत विशेषता नई परिस्थितियों के अनुकूल मन को संतुलन की स्थिति में रखना है । वह धनी वर्ग के उन व्यक्तियों से अपने को दूर रखती है जो केवल तथाकथित अच्छी समाज और उच्च वंश के हैं । आधुनिक युग के विकासमान दृष्टिकोण को अपनाने वाले ये व्यक्ति केवल आडंबर में ही पलते हैं और अन्य क्षेत्रों से शून्य रहते हैं । गिरिजा में संकल्प की दृढ़ता, विचारों की पूर्ण उच्चता और हृदय पक्ष की प्रधानता है । इसके सिवा विद्या के प्रति अप्रतिम पिपासा भी उसमें परिलक्षित होती है । इस प्रकार गिरिजा उपन्यास की नायिका के रूप में आती है, उसकी विशेष

प्रतिभा अभिनेत्री निर्मात्री और निर्देशिका के रूप में उपन्यास में वर्णित की गई है। वह प्रतिभा का साकार पुंज प्रतीत होती है।

महावीर :

महावीर उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र है जिसमें कर्त्तव्य निष्ठा कूट कूट भरी है। वह अपने मित्र के लिए विवाह का बंधन भी स्वीकार नही करता चाहता है। झमिया के प्रति उसमें मानवतावादी दृष्टिकोण है, वासनात्मकता की झलक नहीं। कर्त्तव्य की पूर्णता ही उसका ध्येय है। वह मित्रता का अर्थ ममझता है, इसलिए अपनी गिरिजा के लिए विशेष प्रकार के व्यंजन, कपड़े और अन्य वस्तुएं लाने का प्रयास करता है। सब प्रकार से वह मित्र के अभाव की पूर्ति करता है। महावीर मान-आदर को अधिक महत्व देता है, इसलिए गिरिजा के फिल्म में काम करने की उत्कट इच्छा में सम्मान का प्रश्नवाचक चिन्ह लगा देता है। मालती के गुलबिया के प्रति दोषारोपण करने में उसकी आत्मा जल उठती है। क्रोधी होते हुए भी वह आत्मसंयमी है। महावीर दृढ़प्रतिज्ञ, संयमी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने वाला है : ईर्ष्या उसे छू तक नहीं गई है और इसी स्वस्थ व्यक्तित्व के कारण झमिया उसे देवता तुल्य मानती है।

महावीर और गिरिजा की अपेक्षा किशन और हेमकुमार आदि का चरित्र भी विशेष दृष्टव्य है। किशन अपने परिवार का एकलौता लड़का है। शिक्षा के प्रति उसकी विशेष रुचि है, परन्तु समाज की परिस्थितियाँ उसे अनुमति नहीं देती हैं। हेमकुमार एक अभिनेता है, वह गिरिजा को एक ऐसे समाज में ले जाने का प्रयास करता है, जिसमें गिरिजा की प्रतिभा आलोकित होती है। वह उन्नति के शिखर पर बढ़ती जाती है। उसके आत्माभिमान और आत्मदृढ़ता से हेमकुमार विशेष प्रभावित होता है और उसे अपनी जीवन-संगिनी बनना चाहता है, पर गिरिजा इस संबंध में पूर्व निर्णय दे चुकी है; अतएव वह केवल

गिरिजा के चरित्र की प्रेम सम्बन्धी भावना का ही दिग्दर्शन करता है। कर्मण्य और सुशील नागरिक के रूप में बैजनाथ का चरित्र भी प्रस्तुत होता है।

झमिया आधुनिक ग्रामीण नारी का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी वृत्तियाँ सुसंस्कृत और सरल जीवन से संबंधित हैं। उसका संपूर्ण चरित्र एक ऐसी नारी का रूप हमारे समक्ष रखता है, जो समाज द्वारा त्रस्त रही है और जिसे आश्रय के अवसर पर वरदान रूप सुहृद मनुष्य मिलता है।

उपन्यास की विशेषता :

'सुबह के भूले' उपन्यास में उपन्यासकार ने विशेष जीवनदर्शन को नहीं उठाया है। उसमें समाज के उन व्यक्तियों का चरित्र निदर्शन अच्छी तरह से हुआ है जो निम्न वर्ग के मनुष्यों को किसी प्रकार मनुष्य नहीं समझते हैं। बाह्य सभ्यता की चमक में चौधियाए हुए व्यक्तियों को संसार में समाज और सब व्यक्ति सभ्यता के उस चमक वाले प्रकाश में ही स्पष्ट दीखते हैं; उससे निरपेक्ष होने पर, वे उनकी धारणा के अनुसार मानव की कोटि में नहीं रहते हैं। समाज में बुद्धिवादियों की प्रधानता ही नहीं है। व्यक्ति में भी केवल बुद्धिपक्ष प्रधान नहीं है; उसमें हृदय पक्ष का भी स्थान है। अतएव उसी का उचित सामंजस्य होना आवश्यक है। संक्षेप में, बाह्य बुद्धिवादी जीवन के लिए आन्तरिक भावात्मक जगत का सानिध्य ही उन्नति का मार्ग उपस्थित करता है।

जिप्सी :

"मुक्तिपथ" की समाजोन्मुख विचारधारा का प्रकर्ष "जिप्सी में मिलता है। "जिप्सी" में मनोविज्ञान की कतिपय समस्याओं को एक साथ गुंफित किया है। पर इनकी अधिकता एक विशेष प्रकार का आडम्बर लाती है। उपन्यासकला का प्रयाण जिप्सी के रूप में, पूर्ण समाज कल्याण के प्रयास में मिलता है। उपन्यास के सभी पात्र विद्रोह

एवं नीति, दोनों से जनमंगल की ओर बढ़ते हैं। जिन पात्रों की स्थिति डांवाडोल मिलती है, उनका उचित उपचार भी किया गया है। प्रासंगिक और अधिकारिक कथाओं का उचित सम्बन्ध निर्वाह किया गया है। इसके साथ धर्मों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी दिया गया है। पात्रों की स्थिति भी इस उपन्यास में अद्‌भुत है। विदेशी पात्रों की योजना मिलती है; जो भारत की सांस्कृतिक चेतना को भी मानते हैं।

कथानक :

उपन्यास में प्रमुख तीन कथाएं मिलती हैं। प्रथम, नायक नृपेन्द्र-रंजन और मनिया, द्वितीय, सिल्विया और फादर जेरेमिया और तृतीय, शोभना और वीरेन्द्र से सम्बन्धित है। नायक नृपेन्द्ररंजन ही इन तीनों कथाओं में सुनिश्चित सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होता है। इनमें तीन पक्ष मिलते हैं; प्रथम पक्ष में नृपेन्द्ररंजन मनिया को सम्मोहन के द्वारा अपने वश में करता है और उसे विभिन्न शिक्षाओं द्वारा अपनी जीवन संगिनी बनाने का प्रयत्न करता है। चूंकि नृपेन्द्र जमींदार है; अतएव वह मनिया की शिक्षा-दीक्षा का विशेष ध्यान रखता है। शिक्षा, उसमें आध्यात्मिक बल का संचार करती है जिसका सबल प्रभाव नृपेन्द्र के सम्मोहन के असफल होने में दिखता है। बौद्धधर्म की समर्थक मनिया, नृपेन्द्र के साथ विद्रोह करने को तैयार है; परन्तु वह ईसाई धर्म को स्वीकार करती है। ईसाई धर्म की विधि से विवाह होने के कारण फादर जेरेमिया और सिल्विया से मनिया का संबंध अधिक घनिष्ठ होता है।

इसी घनिष्ठता में द्वितीय पक्ष प्रारंभ होता है। फादर जेरेमिया और सिल्विया का प्रणय व्यापार चलता है और इस प्रणय सम्बन्ध में बंधने पर यह सम्भव था कि फादर जेरेमिया को गिरजाघर से अपना सम्बन्ध त्यागना पड़ता। फादर जेरेमिया और सिल्विया की

हिमक्रीड़ा में भी मनिया का विश्वास उनके धार्मिक स्नेह के प्रति है। मनिया को स्वप्न में ईसा के बाल्य रूप में आने का आभास मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि मनिया गर्भवती हो गई है। नृपेन्द्र इसी समय वातावरण के परिवर्तन के कारण कलकत्ता की ओर प्रस्थान करता है। कलकत्ता में उपन्यास की कथा का तीसरा पक्ष मिलता है। शोभना और वीरेन्द्र एक युगल दम्पति हैं। वीरेन्द्र के साथ शोभना का सम्बन्ध भी एक विशेष घटना के द्वारा होता है। वीरेन्द्र की अस्वस्थावस्था में शोभना उसे सहायता देती है, उसका उपचार भी करती है। वीरेन्द्र और नृपेन्द्र बचपन के साथी हैं। कालिज तक शिक्षा साथ साथ हुई है, अतएव झील के किनारे भेंट होने पर एक दूसरे से मिले बिना नहीं रह सकते हैं। वीरेन्द्र नृपेन्द्र को अपने घर ले जाता है। मनिया और नृपेन्द्र दोनों शोभना के साथ उसी घर में रहना आरंभ कर देते हैं। वीरेन्द्र किसी क्रान्तिकारी दल के गुप्तकार्यों में विशेष दिलचस्प है; अतएव वह कई दिनों तक घर ही नहीं आता है। मनिया इसी बीच बीमार पड़ती है और शोभना का नृपेन्द्र के साथ पर्यटन प्रारंभ रहता है। कुछ समय बाद मनिया के एक बालक उत्पन्न होता है। कलकत्ते की सड़क पर घटित होने वाली घटना में उसका मुखमंडल विकृत हो जाता है।

बच्चे का नाम योहन रखा जाता है। बालक की (आठ महीने बाद) मृत्यु होने पर, मनिया वीरेन्द्र के गुप्त दल में प्रवेश करती है, साथ ही वह ईसा के प्रति रखने वाली अगाध भक्ति को लुप्त कर देती है। शोभना और रंजन केवल अब दो व्यक्ति रह जाते हैं, जिनकी इच्छा हुगली के किनारे वायु परिवर्तन की ओर होती है। मनिया के मुख विकृत करने वाले दल के व्यक्तियों ने नृपेन्द्र की आर्थिक सहायता के लिए करबद्ध प्रार्थना की, पर निष्फल रही।

हुगली के किनारे, शशांक बाबू नामक नए व्यक्ति से रंजन का

परिचय होता है। आसपास के वातावरण में भयंकर रोग के फैलने के कारण शशांक बाबू सेवा दल की स्थापना करते हैं; जिसमें कतिपय महिलाएँ भी रहती हैं। रंजन का विशेष आकर्षण मणिमाला अथवा मंजुला के प्रति विशेष होता है। रोग के समाप्त होने पर सब व्यक्ति (सेवादल के) चले जाते हैं। नृपेन्द्र मंजुला को रोक लेता है। मंजुला के प्रस्ताव के अनुसार इस समय रंजन संपत्ति का कुछ भाग कन्हाई लाल को देने के लिए तैयार होता है, उसकी कन्हाईलाल सम्बन्धी गलत धारणा भी विगलित हो जाती है। कुछ समय के पश्चात् मंजुला के आकर्षण के प्रभाव में रंजन उसकी प्रत्येक बात मानने को प्रस्तुत हो जाता है। मंजुला के ही साथ रंजन कन्हाईलाल की "जनसंस्कृति समन्वय केन्द्र" संस्था से परिचित होता है। केन्द्र का वह निरीक्षण भी करता है।

पटना आने पर वह सारी संपत्ति उस केन्द्र के नाम कर देता है। इसी समय इस रहस्य का उद्‌घाटन होता है कि मंजुला कोई नहीं केवल रूप परिवर्तन के साथ मनिया ही है। मनिया का रूप परिवर्तन फादर जेरेमिया के साथ विदेश जाने पर होता है। कहानी के अंत में उपन्यासकार और श्री रंजन की उपन्यासों के दुर्बल नायकों की योजना के सम्बन्ध में विशेष चर्चा होती है

पात्र :

पात्रों की एक सुदृढ़ भूमिका मिलती है। पात्र स्वस्थ और अपने प्रकृत रूप में आते हैं। मानसिक विकृतियों का स्थान समाज की बुराइयों ने ले लिया। समाज कल्याण की भावना सब पात्रों में प्रमुख रूप से प्रवाहित होती है। नृपेन्द्र और मनिया, वीरेन्द्र और शोभना, फादर जेरेमिया और सिल्बिया के युगल व्यक्तित्व इस प्रकार समाज कल्याण के उस कार्य में दत्तचित होते हैं, जिसकी परंपरा पूर्ववर्ती उपन्यासों से चली आ रही है। प्रमुख पात्र इस प्रकार हैं।

नृपेन्द्र रंजन :

धनी परिवार का एकमात्र उत्तराधिकारी है। व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का सारल्य तथा धन का अभिमान मिलता है। जिप्सी लडकियो में मनिया की ओर आकृष्ट होने पर उसे अपने सम्मोहन से सदा के लिए अपनाने की प्रक्रिया में नायक कुशल है। वह प्रथम मनिया से सम्बन्ध स्थापित करने में सक्रिय है। इस बीच, जो विशेषताएं रजन के चरित्र में दृष्टिगत होती है, वे धनीवर्ग की साधारण वर्ग के व्यक्ति पर विजय पाने की चेष्टाओ के समान है। नृपेन्द्र का व्यक्तित्व प्रारभ में इतना दृढ और सबल है कि नायिका उसके प्रभाव में सब कुछ हार बैठती है। मनिया के स्वल्प शिक्षित होने पर उसका आत्मिकबल वेग से बढता है। अतएव नायक की सम्मोहन सम्बन्धी चेष्टओ का विफल होना इस बात का पुष्ट प्रमाण है। द्वितीय पक्ष में रजन का सम्पर्क मनिया के मातृ स्वरूप मे होता है। मा रूप मे वह अधिक प्रसन्न रहती है। नायक की तृप्ति इस समय तक नही होती है। उसे धनी होने का भूत सवार रहता है, परन्तु वह समाज कल्याण को धन की सहायता नही दे सकता। यही उसके चरित्र का निर्बल पक्ष है। तृतीय पक्ष में, शोभना के साहचर्य में हुगली के किनारे उसका सम्बन्ध शशाक बाबू से बढता है। महामारी के फैलने में उसे एक ऐसे सेवा दल से अवसर पडता है; जिसमें मजुला सदृश नारी से वह प्रभावित होता है। मजुला (कलकत्ता की घटना के पश्चात्) मनिया का ही परिवर्तित रूप है। मजुला की सक्रियता एव मोहकता से प्रभावित होकर "जनसस्कृति समन्वय केन्द्र" के लिए वह अपनी सम्पत्ति देता है।

वीरेन्द्र कुमार :

नृपेन्द्र का बचपन का अभिन्न मित्र है। कलकत्ते में रजन से वह

मिलता है तो उसे अपने घर ले जाता है। वीरेन्द्र का शोभना से सम्बन्ध किसी धर्म के आधार पर नहीं होता है। वह धर्म बाधा मानता ही नहीं है। सब धर्म बराबर हैं। एक स्थल पर स्पष्ट कहा है, "हम दोनों ने तो स्पष्ट स्वीकार कर लिया था कि हम किसी भी धर्म पर विश्वास नहीं करते। न सिविल मैरिज में कोई रुकावट पडी न हमारे मन में "[१]

वीरेन्द्र सामन्तवर्ग का व्यक्ति है, परन्तु विचारों से वह जनकल्याणी है। उसके हृदय में क्रान्ति है और इसी कारण नृपेन्द्र को पाकर वह शोभना से निश्चित हो जाता है। दल का कार्य करने में उसे किसी प्रकार का मोह भी नहीं रह जाता है। वीरेन्द्र जनता में आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति का हिमायती है। वह मानववादी दृष्टिकोण को अपनाकर चलता है। तर्क में निपुण, दयालु एवं परोपकारी, वीरेन्द्र "आन्दोलन के लिए आन्दोलन," "क्रान्ति के लिए क्रांति" का पक्षपाती है, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसकी शोभना से पटरी नहीं बैठती है। कहीं-कही वह मार्क्स का अनुयायी प्रतीत होता है अतएव आत्मबलिदान करने में भी नहीं हिचकता है। संक्षेप में, वीरेन्द्र जन्मगत पूंजीपति होते हुए भी कर्मगत सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करता है। कन्हाईलाल का चरित्र सक्रिय रूप में उपन्यास में नही दिखता है। वह केवल पात्रो की सूचना पर निर्मित हुआ है। उसकी अच्छाइयां ही उसे सगठन का कार्यकर्त्ता बनाती हैं और मनिया भी उसी से प्रभावित होकर जनकल्याण के कार्य में प्रवृत्त होती है। अपने रचनात्मक कार्यो एवं चेष्टाओं से वह नृपेन्द्र से भी आर्थिक सहायता केन्द्र को दिलवाती है।

मनिया :

मनिया का चरित्र उपन्यास में विकास प्राप्त करता है। प्रारम्भिक मनिया का रूप उपन्यास के अन्त में अलौकिक हो जाता

१. जिप्सी· पृ० ३००.

है। मनिया, जिप्सी एवं आवारा लड़की थी। उसकी आवारा स्थिति का विलयन और नये संस्कारों की स्फूर्ति आत्मिक शक्ति का उद्भव ही, उसे विकास क्रम में आगे बढ़ाता है। वह धर्म की शिक्षा से आत्मिक बल प्राप्त करती है। हिन्दू धर्म के प्रति विशेष रुचि उसमें नहीं मिलती है। अतएव वह पहले बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होती है; परन्तु किन्ही कारणों से अन्त में ईसाई धर्मावलंबी बनती है। ईसा के प्रति वह अगाध भक्ति रखती है मातृत्व का भार वहन करते समय उसे ईसा बच्चे के रूप में उसके पास आते दिखते हैं। वीरेन्द्र और शोभना के साथ संबंध स्थापित होने के पूर्व वह अपने विवाह के समय अपनी सहेलियों और चाचियों आदि को नहीं भूलती। मनिया का चरित्र निरन्तर विकास करता है। मोहन की मृत्यु के पश्चात् वह धर्म की अन्धपरम्परा से भी मुक्त होती है और जन-कल्याण को ही अपना धर्म मानती है। इसी उद्देश्य से वह क्रान्तिकारी दल में प्रवेश करती है। परन्तु उसका उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है, वह नृपेन्द्र सदृश धन के संरक्षकों से भी अर्थ लेने का प्रयास करती है, और मंजुला के रूप में सफल भी होती है।

संक्षेप में, मनिया सक्रियता की मूर्ति, उत्साह की पराकाष्ठा का प्रतीक और हृदय से सत्य निष्ठा है। वह रूप बदलने के पश्चात् किसी अन्य प्रकार की योजना नहीं बनाती प्रत्युत, अपने आराध्य को ही भजती है। उसमें कर्मण्यता के गुण वर्तमान हैं, जन कल्याण का संदेश है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक धरातल पर वह अपनी योजना की स्थापना करती है। उसे अपनी मां से विशेष प्रेम रहा है। नृपेन्द्र के पास अधिक रुपया देखकर वह कहती है: "मेरी मां के पास अगर इतना रुपया भी होता तो वह न एक तिब्बती के घर जाती न बब्बा की हत्या की नौबत आती, न वह खुद मोटर से दबकर आत्मघात करती और न मैं इस दुनिया में अकेली मारी-मारी फिरती हुई, बेबसी की जिन्दगी

बिताती।" इन सब पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि राजनीति का मार्क्सवाद चरित्रों के हृदयों में घर कर गया है। आर्थिक समस्यायें जीवन में विषमता लाती हैं; परन्तु इन परिस्थितियों के बाबजूद भी वह समस्याओं का हल निकालती है। व्यापकता, उदारता, सौम्यता आदि मनिया के विशेष गुण हैं।

शोभना का चरित्र भी महत्वपूर्ण है। वह ब्राह्मी परिवार की लड़की है। स्वभाव से सीधी और बुद्धि की तेज है। शोभना का जो सेवा-भाव वीरेन्द्र को उसकी बीमारी के समय परिलक्षित होता है वही विवाह के बाद नहीं मिलता है अतएव वीरेन्द्र और शोभना का जीवन सुखमय नहीं होता है। वीरेन्द्र की शोभना से जो अपेक्षा थी वह निष्फल गई। वह अपने कर्त्तव्य पथ में अग्रसर नहीं हो पाया। संगीत में वह विशेष पटु है। नृपेन्द्र उससे आकर्षित होता है, परन्तु शोभना से उसे कोई विशेष सहानुभूति नहीं मिलती है।

सिल्विया मिसेज़ रालिन्सन की पुत्री है। धर्म की ओर विशेष उन्मुख है। यह आनुषंगिक कथा की नायिका है। स्वभाव से भोली, दृढ़-संकल्प और सहानुभूति से पूर्ण एवं धर्म को व्यापक रूप में ग्रहण करने वाली नारी में, हम विलक्षण आभा पाते हैं।

संक्षेप में, 'जिप्सी' में 'सुबह के भूले' की अपेक्षा पात्रों की योजना अधिक विस्तृत भावभूमि पर है। मानसिक संघर्षों का लोप पात्रों में पूर्णतः मिलता है। धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, नृपेन्द्र और मनिया के सम्बन्ध में उपन्यासकार विशेष सर्तक है। तीसरे प्रकार का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध लेखक और उसके मित्र के वार्तालाप में मिलता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्य की योजना :

सम्मोहन की प्रक्रिया में यह विशेष रूप से स्पष्ट होता है। मनिया सम्मोहन के प्रभाव में नृपेन्द्र को छोड़कर नहीं जा सकती है; यह उसके

वार्तालाप से स्पष्ट होता है। सम्मोहन का प्रभाव मनिया की गरीब, असहाय अवस्था में ही होता है, परन्तु आत्मिक बल प्राप्त होते ही वह इस प्रभाव से मुक्त हो जाती है। इस समय की एक अन्य सम्मोहन की चेष्टा में नृपेन्द्र का प्रयत्न असफल होता है। नायक की असफलता का कारण डा० देवराज उपाध्याय के शब्दों में केवल यही मंतव्य रखता है कि कृत्रिम मानसिक बल पर व्यक्ति को हिप्नोटाइज्ड करने के कारण उसका असफल होना आवश्यक है।

फादर जेरेमिया द्वारा ईसा के जन्म संबंधी व्याख्या विशेष महत्व-पूर्ण है। ईसा ने ही स्वयं उन परिस्थितियों का निर्माण किया था जिसमें उन पर पत्थर फेंके जाएं।[1] ईसा के समस्त कार्यों का विश्लेषण इसी आधार पर किया गया है

राजनीतिक विचार :

पात्रों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति समाप्त होने के कारण वह समाज की अवनति के कारणों पर विचार करने लगते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित पात्रों में वीरेन्द्र, (किसी अंश तक) कन्हाईलाल आदि हैं। सम्पूर्ण उपन्यास का लक्ष्य भी समता पर स्थापित "जन संस्कृति समुदाय" की स्थापना है। मनुष्य के अधिकार बराबर हैं; अतएव यह आवश्यक है कि वे सब क्षेत्रों में समानता का अनुभव करें। इस योजना को उपन्यासकार ने मनिया एवं उसके अन्य साथियों द्वारा उपन्यास के लक्ष्य रूप में उपस्थिति किया है।

जहाज का पंछी :

जनकल्याण एवं सृजनात्मक पक्ष से संबंधित कृतियों में यह उपन्यास जोशी जी की अंतिम कृति है। "जहाज का पंछी" में वही मुक्तिपथ में उद्भूत होने वाली विचारधारा का ही रूप मिलता है।

१. डा० देवराज उपाध्याय—आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृ० २५३

पात्रों और वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से इसमें विशेष नवीनता है। पात्रो की वह बहुलता जो जिप्सी में मिलती है जहाज के पछी में पूर्णरूप से क्षीण हो जाती है। प्रासगिक कथा का सूत्र भी नही मिलता है। इस उपन्यास में जिप्सी के कलापक्ष से विपरीत योजना मिलती है। इसमें कतिपय पात्रो की कमियो का भी परिहार किया गया है।

कथानक :

एक शिक्षित युवक कलकत्ता की गलियो में, निरुद्देश्य बिना स्थान, बिना वस्त्र और भोजन के भटक रहा है। जिसके कपडो से 'पाकिटमार' का बोध होता है, ज्ञान से दार्शनिकता का परिचय मिलता है और जो शरीर सघटना से वह एक त्रस्त व्यक्ति प्रतीत होता है। कलकत्ता की गलियों में प्रथम वह पार्क के जीवन का निरीक्षण करता है जिसके परिणाम में वह अस्पताल का अतिथि बनता है। भाषण कला में प्रवीण होने के कारण वह अस्पताल के डाक्टरो को भी प्रभावित करता है और सहायतार्थ कुछ अर्थ भी पाता है।

अर्थ से प्रथम वह भरण पोषण करता है। इसके पश्चात् ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए 'कन्फेशन आफ ए ठग' पुस्तक खरीदता है। पुस्तक के साथ जहाजी जीवन का आकलन करते समय वह पुलिस की हिरासत में दिया जाता है, जिसमें नई सभ्यता के मजिस्ट्रेट को अपने विचारो से प्रभावित करता है—वह स्वतत्र छोड दिया जाता है। अदालत से मुक्त होने पर आवारा नायक को जितने कटु अनुभव होते है वे जोशी जी के पूर्ववर्ती उपन्यासो के पूरक है। कभी वह कही आश्रय पाता है, कभी पुन· फुटपाथ का राजा बनाया जाता है। "एडवेचर्स आफ वेगाबाड" पुस्तक खरीदते समय वह करीम चाचा से मिलता है। करीम चाचा उसे विभिन्न विद्याओ में पारंगत करते है।

एक विशेष घटना के घटित होने के कारण वह चाचा का साथ छोड़ देता है और पुनः उन भादुडी मोशाई के यहाँ रसोइए का काम करने

लगता है, जिनके यहाँ वह एक बार तिरस्कृत किया गया था। रवीन्द्र जयन्ती पर ओजस्वी भाषण देने पर क्रान्तिकारी समझा जाता है और वह वहाँ से भी निष्कासित किया जाता है। इस समय वह प्यारे (अस्पताल का साथी) की शरण में जाता है। परन्तु बेला की काम संबंधी चेष्टाओं से वह वहाँ भी उचित रूप से नहीं रह पाता। सड़कों पर घूमते-घूमते मिस साइमन के चकले का रसोइया बनता है और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी संस्था का उद्धार करता है। पुलिस की नीति से तंग आकर वह नौकरी मांगते समय लीला का अतिथि बनता है। लीला से उसे सब प्रकार की सुविधाएं मिलती हैं। वह संगीत कला में माहिर निकलता है। लीला उसे स्वामी के रूप में ग्रहण करती है; परन्तु उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती और वह मानसिक अस्पताल में भर्ती होता है। लीला वहाँ जाकर पुनः उसे वापस लाती है। इस प्रकार कलकत्ते से यात्रा प्रारंभ करने वाला नायक कलकत्ते उसी प्रकार वापस आता है जैसे जहाज का पंछी जहाज पर पुनः

पात्र :

पूर्ववर्ती उपन्यासों की अपेक्षा इस उपन्यास की कथावस्तु में विस्तृत अन्तर है। नायक की चरित्रगत विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए उपन्यासकार ने अन्य पात्रों का सृजन किया है। कला की दृष्टि से जोशी जी प्रारंभिक उपन्यासों की वर्णन शैली को अपनाते हैं, जहाज के पंछी में लज्जा की ही शैली का परिष्कृत रूप मिलता है।

आवारा नायक किसी प्रकार के संघर्ष में रत होता प्रतीत नहीं होता है। उसमें वे सब गुण वर्तमान हैं जो उसे परिस्थितियों के अनुसार अपेक्षित होते हैं। वह संगीत, भाषण आदि कलाओं का विशेषज्ञ है। करीम चाचा द्वारा रसोई बनाने की अद्‌भुत क्षमता और शारीरिक गठन उसे विरासत में मिलते हैं। नायक को जोशी जी ने विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में भेजने की योजना की है। आवश्यकता

पड़ने पर वह धोबी के कार्य को भी अच्छी तरह संभाल लेता है और विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वभाव को उस अनुरूप बनाता है। संक्षेप में, नायक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति पूर्व से निश्चित प्रतीत होता है।

अन्य पात्रों में लीला, करीम चाचा और प्यारे का कार्य केवल नायक की चरित्रगत विशेषताओं को दिग्दर्शित करना है। लीला का स्वभाव मनिया से मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनिया को ही धनधान्य से पूर्ण बनाकर नायक की सेवा के लिए ही भेजा है। चरित्रों की अन्य विशेषताएं नायक के रूप को स्पष्ट करने के लिए ही नियोजित की गई हैं

लोकमंगल की भावना का प्रौढ़ रूप :

प्रस्तुत उपन्यास में मुक्तिपथ में आरंभ की गई जनवादी विचारधारा का प्रौढ़ रूप मिलता है। उपन्यासकार ने पात्रों के सृजनात्मक पक्ष को अधिक महत्व दिया है। इस पक्ष की पूर्णता तभी संभव है जब पात्र में योग्यता हो। इसी लिए नायक को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर व्यापक दृष्टिकोण अपनाने का अवसर दिया है। विभिन्न प्रकार के अनुभवों एवं कष्टों के परिणाम स्वरूप ही उसे लीला की सुखद छाया का अनुभव कराया है और जनकल्याण संबंधी कार्यों के लिए तन मन धन से प्रस्तुत रखा है। इस उपन्यास में पूर्ववर्ती उपन्यासों की किसी कमी को शेष नहीं रहने दिया है। उपन्यास भी इस प्रकार की योजना में अधिक नवीन रूप में पाठकों के समक्ष आता है। पर कला की दृष्टि से उपन्यासकार प्रगति या विकास न पाकर ह्रास की ओर अग्रसर प्रतीत होता है। लोक मंगल की भावना का आश्रय लेकर नायक को निष्क्रिय जीव के रूप में सिद्ध किया है जिसे स्वल्प प्रयत्न की इच्छा करने पर ही सिद्ध प्राप्त हो जाती है। उपन्यास की केन्द्र-वस्तु नायक की क्रियाशीलता के अभाव में कलाकार की प्रतिभा का वह रूप हमें नहीं मिलता है जो हम पिछली कृतियों में पा चुके हैं।

: ६ :

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासः स्थितियाँ और पात्र विकास

उपन्यासों की विस्तृत विवेचना के पश्चात् उनकी विकास स्थिति का आकलन करना भी आवश्यक है। कृतियों से कलाकार की प्रौढ़ता उत्तरोत्तर मुखर होती है। आरम्भिक कृति की तुलना में प्रौढ़कालीन कृति एक विकासशील चरण प्रतीत होता है। जोशी जी के उपन्यासों में प्रमुख तीन स्थितियाँ ही पाई जाती हैं। इनका तत्वमय विवेचन करने से विकास क्रम स्पष्ट होता है। हमने जोशी जी की कृतियों को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया है। (अ) आरम्भिक उपन्यास (ब) मध्य स्थिति के उपन्यास (स) परवर्ती उपन्यास।

वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से :

इस विभाजन में जोशी जी के विचार क्रमशः व्यक्तिमुखी से समाजोन्मुख होते गए हैं। व्यक्तिगत मानसिक समस्याओं की योजना प्रारम्भिक कृतियों में मिलती है पर, परवर्ती कृतियों तक समाज की विकृतियों और उनके यथेष्ट समाधान का दर्शन होता है। प्रारंभिक यौनवृत्तियाँ और उनसे उद्भूत विकृतियों का क्रमशः उदात्तीकरण होता गया है। व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृत्ति परार्थ का गुण प्राप्त करती है। समाजोन्मुख ऊर्ध्वगामी विचारधारा का क्रमशः प्रवेश इन उपन्यासों में परिलक्षित होता है। पात्रों की निष्ठा अपने कार्यों तक सीमित नहीं रह गई उनमें जन-कल्याण की भावना भी निहित मिलती है। यह तो हुई वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से प्रगति।

कला की दृष्टि से :

कला की दृष्टि से भी उपन्यासों के शिल्प पर विचार करना अनिवार्य है। प्रारम्भिक कृतियों में लज्जा आत्मोद्गीरित शैली में लिखा गया है। स्वगत और भाषण की योजना इतनी अधिक है कि उपन्यास प्रारम्भ में केवल भाषणों का संग्रह प्रतीत होता है। यह पक्ष कृतियों में शनैः शनैः अधिक उभार में आया है। वर्ण्य वस्तु कुछ भी रही हो, पर कला की दृष्टि से "पर्दे की रानी" की कथावस्तु प्रतिपादन की शैली कथा की एकान्विति और मनोवैज्ञानिक आशय की नियोजना प्रारम्भिक कृतियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान पाती है। विचारों की प्रौढ़ता अभिव्यक्ति में भी प्रौढ़ता का संचार करती है। भाषा में वैशिष्ट्य एवं परिमार्जन भी क्रमशः मिलता है। इस प्रकार कला पक्ष की दृष्टि से भी इनके उपन्यासों में एक सीमा तक विकास हुआ है पर अन्तिम कृति में उसका असंभावित रूप प्राप्त होता है—कला का ह्रास मिलता है। इलाचन्द्र जोशी के प्रमुख नौ उपन्यास हैं : "घृणामयी" अथवा "लज्जा", "सन्यासी", "पर्दे की रानी", "प्रेत और छाया", "निर्वासित", "मुक्ति-पथ", "सुबह के भूले", "जिप्सी", और "जहाज का पंछी"। इन उपन्यासों की कथावस्तु अपने में अद्वितीय है।

आरम्भिक उपन्यास :

"घृणामयी" से जोशी जी का उपन्यास साहित्य प्रारम्भ होता है। "घृणामयी" का ही परिवर्तित एवं संशोधित रूप 'लज्जा' है। दोनो उपन्यासों में उद्दाम वासना से पीड़ित नारी का चित्रण है। लज्जा का चरित्र 'फ्रायड' मनोविज्ञान के कतिपय पहलुओं को स्पष्ट करता है। कथावस्तु अभिजात वर्ग की है। प्रमुख पात्र लज्जा, राजू, डाक्टर कन्हैयालाल, माधवी दीदी आदि हैं। इनसे लज्जा के चरित्र उद्घाटन में विशेष सहायता मिलती है। तरुण वय के पात्रों को लेकर जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है, वह फ्रायड के 'दमित काम-

वासना सम्बन्धी सिद्धान्त' से विशेष परिचालित है। प्रथम प्रयासी कलाकार की भाँति घटनाओं की बहुलता जोशी जी के प्रथम उपन्यास में दृष्टव्य है। औत्सुक्य अथवा कौतूहल का भाव कहीं-कहीं इतना क्षीण हो जाता है कि कथा का अंत, पाठक अनुमानित कर लेता है। कैफ़ियत की योजना प्रारम्भिक कृतियों से मिलने का कारण कलाकार ने स्वयं स्पष्ट किया है कि यत्र तत्र अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उसे यह करना पड़ा है। यद्यपि कैफ़ियत की उपस्थिति कथा के अन्त की सूचना भी दे देती है। "लज्जा" में जिस विशेष दृष्टिकोण से कृतिकार आगे बढ़ता है उसका विकास "सन्यासी" और "पर्दे की रानी" में पूर्णता प्राप्त करता है।

"सन्यासी" में निहित कथा वस्तु और मनोविज्ञान एक विकसित एवं प्रौढ़ कलाकार के दर्शन कराते हैं। इसमें भी प्रमुख पात्र चार ही हैं। नन्दकिशोर, बलदेव, शान्ति और जयन्ती। इनके माध्यम से नन्दकिशोर के अहं पीड़ित व्यक्तित्व का निदर्शन स्पष्टकारी परिणाम उपस्थित करता है। जयन्ती की मृत्यु, शांति का पलायन और स्वयं नन्दकिशोर का सन्यासी होना केवल अहं भाव का चरित्र होने के कारण है। इसीलिए "सन्यासी" का नायक अपने समक्ष किसी का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसका अहं इतना फूलता है कि वह स्वयं अपना संतुलन भी खो बैठता है।

नायक का दो विभिन्न स्वभावों की नारियों से सम्बन्ध बतलाया गया है, इसमें उसकी प्रतिक्रिया के विभिन्न रूप मिलते हैं। कथावस्तु में विकास प्रतीत होता है। कौतूहल पर विशेष ध्यान देने के कारण कैफ़ियत का अभाव ही नहीं हुआ है बल्कि रचना में सुन्दरता भी आ गई है। प्रासंगिक कथा के वहन करने के कारण जयन्ती का चरित्र अधिक स्पष्ट नहीं आया है। कुल मिलाकर, "सन्यासी" में जोशी जी की कला के नये पद-स्थापन का रूप है। वर्ण्य वस्तु और कलापक्ष पर

विशेष ध्यान दिया गया है। "सन्यासी" से उस समाज का चित्र उपस्थित होता है, जो आधुनिक सभ्यता के युग में किसी प्रकार की ग्रंथियों से मुक्त नहीं है। दोनों उपर्युक्त उपन्यासों की समस्याओं का स्वस्थ और विकसित रूप "पर्दे की रानी" में मिलता है।

'पर्दे की रानी" में सर्व प्रथम जोशी जी ने पूर्ववर्ती समस्याओं को एक सूत्र में मिलाया है। इन्द्र मोहन और निरंजना ये दो व्यक्तित्व अहं ग्रस्त हैं। कथा की एकान्विति इसमें लक्षित होती है।"पर्दे की रानी" समाज के उस वर्ग की लड़की है जो हेय समझा जाता है। व्यक्ति का अन्तर विकृत होने पर कितने भयंकर विनाशकारी कार्यों की ओर अग्रसर कर सकता है यह इस उपन्यास में पूर्णरूपेण मिलता है। हीनता की ग्रंथि से उत्पन्न समस्या का समाधान भी जोशी जी इस उपन्यास में करते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में समस्या का रूप दिया गया है पर उसका समाधान नहीं किया गया है। इस उपन्यास में चन्द्रशेखर द्वारा पात्रों का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। मनमोहन सिंह के रूप में समाज के कतिपय ऐसे व्यक्तियों का चित्र उपस्थित किया गया है जो वास्तव में नारकीय प्राणी हैं।

निरंजना के जन्म सम्बन्धी रहस्योद्घाटन से उसे जो मार्मिक पीड़ा पहुँचती है, और उससे प्रसूत विकृति के जो परिणाम होते हैं वह संपूर्ण उपन्यास के आधार होते हैं। इन्द्र मोहन और निरंजना के जीवन द्वारा कथा के विभिन्न मोड़ों को आश्रय मिला है। पर कुल मिलाकर कथा की एकसूत्रता "पर्दे की रानी" की अपनी विशेषता है। इस उपन्यास में पात्रों का एक ऐसा पक्ष भी स्पष्ट रूप में प्रवहमान रहा है जो सत् प्रवृत्तियों का उद्घाटन करता है जैसे चन्द्रशेखर और शीला आदि।

संक्षेप में, "पर्दे की रानी" में प्रथम दो उपन्यासों की कथावस्तु, शैली और उद्देश्य की पूर्ण विकसित भूमि मिलती है। पात्रों की चरित्र सम्बन्धी अस्पष्टता, शैली में निहित अभिव्यक्ति की शिथिलता और कथा-

वस्तु का सामयिक चयन आदि अपने स्पष्ट एवं उचित रूप में इस उपन्यास में मुखरित हुए हैं। उपन्यास में प्रारम्भ, मध्य और चरम आदि स्थितियों का भी आभास मिलता है। प्रारम्भिक तीन कृतियों में जो उपन्यास का कलात्मक रूप मिलता है वह जोशी जी के उपन्यासों की एक स्थिति का निर्देश देता है।

मध्यस्थिति के उपन्यास :

द्वितीय स्थिति में वे उपन्यास आते हैं जिनमें सामाजिक चेतना के बीज स्पष्ट रूप में पड चुके हैं और अंकुरित होने की स्थिति में हैं। "पर्दे की रानी" में निरंजना को चन्द्रशेखर नारी की आदर्श स्थिति से अवगत कराते हैं और निरंजना का मानसिक विश्लेषण करते हुए, उसे मानवीय गुणों को अपनाने की प्रेरणा देते हैं। निरंजना को यह आवश्यक भी था कि वह विकृति को समाप्त कर चन्द्रशेखर द्वारा निरूपित गुणों को अपनाने का प्रयास करे। यही मानवीय गुण द्वितीय स्थिति के उपन्यासों में अपना प्रसार मंजरी और प्रमीला के चरित्र में अधिक सुगठित रूप में आते है। "प्रेत और छाया" में पुरुष की विकृति को उसी प्रकार माध्यम बनाया है जिस प्रकार "पर्दे की रानी" में निरंजना की विकृति मार्मिक आघात द्वारा प्रस्तुत की जाती है। पारसनाथ को उसके पिता (तिब्बती दानव) द्वारा आघात पहुँचाया जाता है। "पर्दे की रानी" में नायिका को मानसिक विश्लेषण द्वारा परितोष अवश्य दिया जाता है, परन्तु वह अपना सर्वस्व तो पहले ही खो चुकी है। अतएव यह परितोष कल्याणकारी परिणाम उपस्थित नहीं करता है। "प्रेत और छाया" में नायक को प्रथम आघात से विकृति पूर्ण जीवन व्यतीत करने दिया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप वह प्रत्येक नारी को अपनी मां के समान घृणित मानकर प्रतिहिंसा से पीड़ित करना चाहता है। "काँची", मंजरी और यहाँ तक कि

नन्दिनी, (जिससे उसे भयंकर आघात पहुँचता है) से वह वही प्रतिशोध लेना चाहता है, पर उपन्यास के अंत में पिता द्वारा दिए गए आघात का अद्‌भुत उपचार किया गया है। पिता स्वयं अपनी भूल स्वीकार करता है और इस प्रकार नायक स्वास्थ्य लाभ की स्थिति में आ जाता है। इसी कारण हीरा से विवाह होने के पश्चात् मंजरी से वह क्षमायाचना भी करता है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त होने पर यह उपन्यास "पर्दे की रानी" की कोटि में आ जाता है परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि "प्रेत और छाया" में समाज कल्याण की भावना' 'पर्दे की रानी" की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में आई है।

समाज कल्याण अथवा लोक मंगल की भावना का प्रभाव मंजरी के डाक्टर रूप अपनाने में स्पष्ट है। नन्दिनी को अपनी भोग्या बनाने वाले भुजौरिया जी भी समाज के लिये त्याग करते हैं। इसके साथ ही, मनुष्य के बाह्य और अन्तः जीवन की एकता पर भी विशेष बल मिलता है। मानसिक ग्रंथियाँ व्यक्ति शरीर को उसी प्रकार निर्बल करती हैं जिस प्रकार उसकी परिस्थितयाँ। भूमिका में जोशी जी ने स्पष्ट लिखा है "प्रेत और छाया" का तात्पर्य अन्तश्चेतना में डोलने वाली भयंकर असामाजिक वृत्तियों से है जो चेतना के निर्बल क्षणों में छद्‌म वेश में व्यक्त होने की चेष्टा करती है।"[१] चेतना के निर्बल क्षण व्यक्ति में उसी समय आते हैं जब वह ग्रंथियों से मुक्त है। स्वस्थ व्यक्ति में चेतना निर्बल नहीं हो सकती अन्यथा वह स्वस्थ न रह जायगा।

"प्रेत और छाया का सामाजिक पक्ष "निर्वासित" में उभरा अवश्य है; पर उपन्यास के अन्त में विद्रोह के साथ सृजन के तत्व भी निहित हैं। उपन्यास के नायक महीप का "बबुआ-रूप" उसे समाज

---

३. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया : भूमिका.

से सर्वत्र विफल करता है। वह खन्ना परिवार की तीन बहिनों से प्रणय निवेदन करता है पर असफल रहता है। उसकी कविताओं में निहित विद्रोहाग्नि उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट करती है। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह शोषक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आते हैं और शोषित पात्रों का प्रतिनिधित्व हमें नीलिमा, रूपा और धीराज में मिलता है; परन्तु इन पात्रों के साथ, ऐसे पात्रों की योजना भी मिलती है; जो शोषित होने पर भी विद्रोहाग्नि को अन्तराल में छिपाए बैठे हैं और समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। शारदा देवी (अन्त में प्रतिमा भी इस विद्रोह में सम्मिलित हो जाती है) के हृदय में यह विद्रोहाग्नि प्रज्वलित होती रहती है और वह ठाकुर लक्ष्मी नारायण सिंह से प्रतिशोध लेने में तत्पर दिखाई देती है।

नीलिमा की चिंतित दशा के लिए ठाकुर साहब ही अधिक उत्तर-दायी हैं, रूपा में तो कुछ अपना रह ही नहीं जाता है। वह परिस्थितियों की दास है। इस प्रकार शोषक और शोषित की स्थिति भी इस उपन्यास में स्पष्ट मिलती है। परन्तु अन्त में "ठाकुर साहब" के भवन में आग लगाने का आयोजन दिखाकर उपन्यासकार ने उस सृजनात्मक पक्ष को उभारने का प्रयास किया है जो इनके परवर्ती उपन्यासों में मिलता है।

कला पक्ष और वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से मध्यस्थिति के उपन्यास अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में नायक की जिस पलायनवृत्ति का उल्लेख मिलता है; उसका इन उपन्यासों में ह्रास मिलता है। पात्रों का भी स्तर उठता प्रतीत होता है। ऊँची हवेलियों के नायकों का ही वर्णन नहीं मिलता, वरन् मध्यम वर्ग और सामान्य वर्ग के चरित्रों को भी चित्रित करने का प्रयास है। स्वगत और भाषणों का प्रयोग अपनी अहं वृत्ति से हटकर समाज-कल्याण के लिए व्यक्तियों में नवजागृति के लिए होता है। इस प्रकार ये उपन्यास

आरम्भिक उपन्यासों से भिन्न हैं। यौन वृत्ति का वह परिष्कृत रूप हमें प्राप्त होने लगता है, जिसका उल्लेख हम परवर्ती उपन्यासों में व्यापकता से पाते हैं। श्री अनन्त चतुर्वेदी ने "आलोचना" में अपने लेख में इस उपन्यास के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट किया है "उनके आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक विभिन्न प्रकृति के बीच घात प्रतिघात द्वारा औपान्यासिक वस्तु अन्तर्गत के अतल कूप से उठकर सामाजिक संघर्ष के धरातल पर उभर आई है और इस प्रकार यह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध, द्वन्द्व एवं आरोह अवरोह की दृष्टि से अधिक अर्थवादी हो उठा है।"[१] इस प्रकार जोशी जी के इन उपन्यासों में सामाजिकता का बीज पड़ चुका है और ये यौनवृत्ति के ह्रास का भी संकेत देते हैं।

परवर्ती उपन्यास :

"मुक्ति पथ" से जोशी जी की उपन्यास कला का नया रूप सामने आता है। व्यक्तिगत विकृतियों और स्वार्थों से ऊपर उठकर पात्रो की स्वस्थ सामाजिक चेतना के दर्शन हमें मिलते हैं। "मुक्तिपथ" का नायक राजीव वर्मा सुदृढ़ व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती उपन्यासों के, वे गौण पात्र जो अपने सात्विक गुणों के कारण, नायकों द्वारा "उनकी विकृति के प्रभाव से" बहिष्कृत अथवा तिरस्कृत थे; अपनी सहज वृत्तियों के स्वस्थ विकास के कारण नायकत्व प्राप्त कर लेते हैं। इन पात्रों के अग्रदूत के रूप में मुक्तिपथ में राजीव वर्मा प्रमुख हैं। "राजीव वर्मा" सुनन्दा सदृश विश्वव्यापी सामाजिक चेतना को वहन करने वाली नारी के साहचर्य से उपनिवेश की स्थापना करते हैं और गांधी जी की सर्वोदय नीति का अनुसरण करते हुए, समाज की चतुर्दिक उन्नति

---

१. श्री अनंत चतुर्वेदी, आलोचना अंक १८, पृ० ७१.

करने में संलग्न होते हैं। इस स्थिति में उपन्यास अंतर्मुखी होने के साथ बहिर्मुखी भी होता है।

"मुक्ति पथ" में "सम-श्रम-साधना" के आधार पर ही एक नयी समाज की कल्पना की गई है। यद्यपि उस समाज के अन्तर्गत भी सुनन्दा सदृश नारी अपने साथी राजीव द्वारा हृदय की प्यास को भी तृप्त नहीं कर पाती है। "मुक्तिपथ" से परवर्ती उपन्यासों में जो दृष्टिकोण मिलता है; इसमें श्री अनन्त चतुर्वेदी के शब्दों में, "पात्रों में रहस्यात्मकता का कम होना, चरित्रों में सेक्स भावना की न्यूनता, बुर्जुआ क्रांति के विरोध में गांधीवादी सामूहिक सर्वोदय की भावना का आना"[१] ही मुख्य है। इसीलिए राजीव वर्मा सदृश नायक कृच्छ्र साधना का अभ्यासी हो जाता है और हृदय पक्ष की महत्ता से अनभिज्ञ रह जाता है।

हृदय और बुद्धि का उचित सामंजस्य सर्व प्रथम "सुबह के भूले" में गिरिजा के सुबह भूलने पर सन्ध्या को घर आ जाने में मिलता है। गिरिजा बुद्धि विकास के साथ ही समाज से उन्नति प्राप्त करती गई और उसका सम्बन्ध भी अपने किशन से विच्छेद सा होता जाता है; परन्तु जब उसे उन बुद्धिवादी व्यक्तियों से द्वेषपूर्ण और उपेक्षामय व्यवहार मिलता है, तब वह अपनी स्थिति का अनुभव करती है और किशन (जो उसका बचपन का साथी है हृदय भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी) से अपना पूर्व सम्बन्ध ही स्थापित करती है। इस प्रकार समाज कल्याण की भावना के साथ पात्रों में स्वस्थ विकास की स्थिति 'सुबह के भूले' में मिलती है। कथानक और चरित्रों की दृष्टि से जोशी जी इस उपन्यास में कोई नवीन उद्‌भावना नहीं करते हैं उनका सामंजस्यीकरण वाला रूप ही स्पष्ट होता है।

"जिप्सी" की कथावस्तु में विशालता और चरित्रों की बहुलता

१. श्री अनंत चतुर्वेदी, आलोचना अंक १८, पृ० ७१.

मिलती है। विशालकाय हो जाने पर भी उपन्यास की कथा में एक सूत्रता मिलती है। "जिप्सी" में सामाजिक उन्मेष की भावना विशाल रूप में मिलती है। यह उन्मेष पात्रों की मानसिक विकृति को समाप्त करके उनमें लोक कल्याण के पक्ष को उभारती है। जिससे उन्हें किसी प्रकार क्षति से ग्रस्त नहीं जान पड़ता। नृपेन्द्ररंजन में जोशी जी ने इन्हीं तत्वों की योजना की है। नृपेन्द्र रंजन अपनी सम्पत्ति को पूर्णतः देश और समाज कल्याण के हेतु दान करता है, पर उसके पूर्व मनिया के दुर्बल स्वभाव से अनुचित लाभ उठाने की विशेष प्रवृत्ति भी उसमें पाई जाती है। कन्हाईलाल का चरित्र बलदेव की प्रतिमूर्ति के रूप में उपन्यास में उपस्थित हुआ है। "मुक्ति पथ" और "सुबह के भूले" में पल्लवित होने वाली लोकमंगल की धारा का प्रौढ़ रूप "जिप्सी" में मिलता है। नायक और नायिका तथा अन्य गौण पात्र भी इस सामाजिक कार्य में सक्रिय भाग लेते हुये प्रतीत होते हैं। मनिया का रूप प्रारंभिक पृष्ठों की अपेक्षा अंतिम पृष्ठों में एक विशेष नारी का मिलता है। वह दया, नम्रता, सौजन्य और सम्मोहन की मूर्ति है। जिप्सी में मानसिक विश्लेषण के सिवा ईसाई धर्म की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या मिलती है।

"जिप्सी" पुस्तक के कलेवर की दृष्टि से ही विशालकाय नहीं है; परन्तु विभिन्न मतमतान्तरों की उसमें सम्यक विवेचना भी की गई है। इन सब की योजना आनुषंगिक रूप में है। उसमें प्रमुख बल लोक कल्याण की भावना पर ही है। राजनीतिक विचारों का स्पष्ट समावेश इस उपन्यास में दृष्टिगत होता है। नारी की महान सत्ता का आभास उपन्यास के प्रत्येक भाग में है। धर्म का बल मनुष्य के लिए अन्य सब संघर्षों से मुक्त करता है। मनिया प्रथम दो या तीन अवसरों पर नृपेन्द्ररंजन के सम्मोहन के प्रभाव में आ जाती है, पर धर्म का बल प्राप्त होने पर वह प्रभाव उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है। मनिया उसकी इन चेष्टाओं को नाटकीय अभिनय समझ कर खिलखिलाकर

हँस पड़ती है। "जिप्सी" के पात्रों में आंतरिक द्वन्द्व का उतना अधिक महत्व नहीं है जितना बहिर्द्वन्द्व का। बाह्यद्वन्द्व का सुलझाव मनिया के रूप बदलकर अमेरिका से लौटने पर होता है।

प्रासंगिक कथा में फादर जेरेमिया और सिल्विया को उपन्यासकार ने विदेशी पात्रों के रूप में रखकर उन्हें भारतीय-सभ्यता से प्रभावित बताया है। प्रासंगिक कथा का आधिकारिक कथा से सम्बंध निर्वाह समुचित रूप में हुआ है।

"जहाज का पंछी" उपन्यास 'लज्जा' की आत्ममुखोद्गीरित शैली में लिखा गया है अतएव कतिपय आलोचक यह भी मानते हैं कि जोशी जी 'जहाज के पंछी' के समान कला के क्षेत्र में पुनः उसी स्थान पर आते हैं; जहां से उन्होंने प्रारंभ किया था। इस रूप में लज्जा में शैली की दृष्टि से और वर्ण्य विषय की दृष्टि से 'जहाज के पंछी' से भिन्नता प्रतीत होती है। समाज की कतिपय विकृतियों का चित्रण करते हुए जोशी जी समाज, धर्म और देश के कल्याण से सम्बन्धित उसी भावना का व्यापक प्रसार इस उपन्यास के एक पात्र में करते हैं। नायक, गुमनाम, आवारा और शिक्षित है। मनुष्यमात्र की प्रारम्भिक समस्यायें हैं—रोटी, कपड़ा और मकान। इन की पूर्ति करने पर ही वह बुद्धि से प्रसूत कार्यों और योजनाओं की पूर्ति कर सकता है। नायक को विभिन्न स्थलों पर विचित्र प्रकार की अनुभूतियां कराई हैं। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि नायक को विभिन्न संस्थाओं में भेज कर शिक्षा दी जा रही है; जिससे वह राष्ट्र व्यापी आंदोलन में सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से अपना कार्य कर सके। इसके बावजूद नायक में कतिपय ऐसे गुणों का समावेश हो गया है जो स्थल स्थल पर अप्राकृतिक भी प्रतीत होते हैं।

"जहाज का पंछी" जोशी जी के संपूर्ण उपन्यासों में विकास की सीढ़ी में जीवन दर्शन से हीन है। नायक केवल अपने कार्यों में

निष्क्रिय प्रतीत नहीं होता वरन् उसमें अस्वाभाविक गुणों का भी उल्लेख कर दिया है। समाज के विकृत पक्षों पर ही उसकी विशेष दृष्टि जाती है; जिनका वह सम्यक सुधार करना चाहता है। महिला संघ की स्थापना आदि में जनवादी विचार धारा का रूप मिलता है; परन्तु वह उतना प्रभावशाली नहीं है, जितना कि उनके पूर्व उपन्यासों में वर्णित। परन्तु उपन्यास कला की दृष्टि से "जहाज का पंछी" पूर्ववर्ती उपन्यासों में एक ह्रास है। पात्रों की न्यूनता और विभिन्न समस्याओं का सन्ग्रथन, विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण और उनमें नायक की सफलता का संकेत, उपन्यास की निजी विशेषतायें हैं।

भाषा सर्वत्र हिन्दी खड़ी बोली है। आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग है। व्यंग्य, विनोद और भाषण का ओजस्वी रूप संपूर्ण उपन्यासों में परिलक्षित होता है। मार्मिकता, चुटीली व्यंग्योक्तियों के उत्तर प्रत्युतर में भाषा पर जोशी जी का असाधारण अधिकार है। उपन्यास के विकास में भाषा भी परिष्कृत होती गई है और स्थल के अनुकूल विचारों को वहन करती है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जोशी जी के संपूर्ण उपन्यास प्रमुख दो विभागों में विभाजित किए जा सकते हैं १. व्यक्ति-परक और २. समाज-परक। व्यक्ति परक उपन्यासों में प्रारम्भिक पांच उपन्यासों को स्थान दिया जा सकता है। इन उपन्यासों में प्रथम उपन्यास 'लज्जा' नारी की कामभावना से परिपूर्ण है। द्वितीय उपन्यास में, नायक की जटिल मनोग्रंथियों का उल्लेख है। तृतीय उपन्यास "पर्दे की रानी" में "नारी" और चतुर्थ "प्रेत और छाया" में, 'पुरुष' अहं से पीड़ित है। उनके मर्मस्थलों पर आघात किया गया है। जिसके परिणामस्वरूप दोनो को जीवन में अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ती

हैं। परन्तु "पर्दे की रानी" में व्यापक एवं अधिक जटिल अहं के समक्ष संकुल एवं कम जटिल अहं की हार होती है। इन्द्रमोहन का अहं इतना अधिक व्यापक है कि निरंजना के कौमार्य को नष्ट करने के लिए यथासाध्य सावधानी रखता है और अपना लक्ष्य समाप्त होते ही उसके एक इंगित पर प्राण भी दे देता है। "प्रेत और छाया" में जोशी जी ने इन व्यक्तियों के उपचार करने की चेष्टा भी की है और सफल भी हुए हैं। पाँचवें उपन्यास के प्रारम्भ एवं चौथे के अन्त से जोशी जी के सामाजिक झुकाव का पता चलता है। "निर्वासित" में इसकी योजना का विशेष ध्यान रखा गया है। इस प्रकार, प्रथम नारी, पश्चात् पुरुष, और फिर दोनों का समाज की विकृतियों के साथ चित्रण है।

द्वितीय श्रेणी में, बाद के चार उपन्यास आते हैं। "मुक्ति पथ" में जिस भावना को व्यापकता से लिया गया है वह है "सर्वोदय की भावना।" इस उपन्यास में नारी की कोमल भावनाओं की उचित अभिव्यक्ति न होने के कारण उपन्यास के नायक और नायिका के सम्बन्ध विच्छेद से उपन्यास समाप्त होता है। 'सुबह के भूले', और 'जिप्सी' में इसी भावना का प्रसार यत्किंचित बदले हुए रूप में होता है। "जहाज का पंछी" में इन पूर्ववर्ती उपन्यासों का उपसंहारात्मक रूप है। अन्तिम उपन्यास का कथानक, सम्वाद, चरित्रचित्रण आदि की दृष्टि से इन सब से पृथक है परन्तु अन्त में जो मूल सन्देश देता है वह है व्यापक मानवतावाद का प्रसार। यह "सर्वोदय की भावना" से उद्भूत तथ्य है। इस प्रकार जोशी जी उपन्यासों में उत्तरोत्तर एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते गए हैं।

पात्रों का विकास :

इलाचन्द्र जी के संपूर्ण उपन्यासों के पात्रों पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भिक उपन्यास के पात्र अपने यत्किंचित परिवर्तित रूप में अन्य उपन्यासों में आते हैं। लज्जा उपन्यास

में प्रमुख चार पात्रों के कार्य परिलक्षित होते हैं । १. राजू, २. कन्हैयालाल, ३. लज्जा, ४. माधवी दीदी । राजू का चरित्र संपूर्ण उपन्यास में एक निग्रही एवं चेतन व्यक्ति के रूप में आया है । वह अपने कार्य के लिए सतर्क है । अपने परिवार क मान-सम्मान का उसे ध्यान है । इस कारण वह अपनी बहिन के कार्य-कलापों से असन्तुष्ट रहता है और अन्त में असह्य दृश्य न देख सकने के कारण मर जाता है । यह चरित्र "सन्यासी" में नायक के भिन्न रूप में आता है । राजू सम्पन्न घराने का व्यक्ति है अतएव वह अधिक कुछ नहीं कर पाता पर, चूंकि बलदेव परिस्थितियों से बुरी तरह पीड़ित हुआ है वह कुछ क्रांतिकारी विचारों से परिपूर्ण है; परन्तु हृदय से वैसा ही स्वस्थ और आत्म निर्भर है । "पर्दे की रानी" में यही नायक गुरु जी "चन्द्रशेखर" के रूप में तटस्थ दृष्टिकोण रखता है । व्यक्ति की अन्तर्मुखी समस्याओं का विचार करने वाले उपन्यासों में इस प्रथम चरित्र का विकास होता गया है । उपन्यासों की दिशा के साथ पात्र भी अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी होते गए हैं । 'निर्वासित' के ठाकुर धीराजसिंह में इस पात्र की यत्किंचित झलक मिलती है । "मुक्तिपथ" और "सुबह के भूले" के पश्चात इस पात्र ने अपनी सक्रियता की परा-काष्ठा का परिचय दिया है । "जहाज के पंछी" में करीम चाचा के रूप में उपर्युक्त उपन्यासों में छूटने वाले सभी कार्यों और गुणों का समावेश मिलता है । यह चरित्र अपने में अद्वितीय है ।

दूसरा प्रारम्भिक चरित्र लज्जा है, वह उद्दाम कामवासना से ग्रसित है । सम्पन्न घराने की लड़की होने के कारण उसे उसकी काम सम्बन्धी चेष्टाओं से दोषी नहीं ठहराया जाता परन्तु 'सन्यासी' में यही लड़की जयन्ती का रूप धारण करती है । 'पर्दे की रानी' की प्रवृतियां लज्जा से मिलती जुलती हैं । प्रतिहिंसा का जो रूप लज्जा के मन में डाक्टर कन्हैयालाल और कमलिनी को देखकर मिलता है, वही विनाशकारी रूप

निरंजना में उसके जन्म सम्बन्धी रहस्योद्घाटन के स्पष्ट करने में मिलता है। इन्द्रमोहन और मनमोहन सिह की अपेक्षा शीला की मृत्यु में यही प्रतिहिंसा कारण स्वरूप है। निरंजना का व्यक्तित्व विकृत अहं एवं प्रतिहिंसा से पूर्ण नारी का है।"प्रेत और छाया" में नन्दिनी सुन्दर वेश में एक वेश्या है। पारसनाथ की धूर्तता को समझकर वह उसे निरन्तर प्रताड़ित करना चाहती है। शोभना और बेला में इसी पात्र का विकास हुआ है। बेला की काम-भावना लज्जा के समान ही है, उनमें अन्तर केवल इतना है कि एक गरीब परिवार की लड़की है और दूसरी सम्पन्न घराने की।

तृतीय प्रकार के पात्र में डाक्टर कन्हैयालाल का स्थान विशेष है। इस पात्र का स्वभाव धूर्तता, लम्पटता और आचरणहीनता से पूर्ण है। कार्य साधन ही इसका मुख्य उद्देश्य है। यह पात्र आदर्शहीन है। सन्यासी' में कैलाश, 'पर्दे की रानी' में इन्द्रमोहन इसका प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्द्रमोहन में नारी को उपभोग समझने का विशेष गुण मिलता है। अपनी अतृप्ति को परितोष देने के लिए वह नानाविद् रूप धारण करता है। इसके पश्चात् जोशी जी के उपन्यासों में इस प्रकार की यौनवृत्ति के विकृत रूप का अभाव पाया जाता है। परन्तु इस पात्र की स्थिति यहीं समाप्त नहीं हो जाती वह दूसरे वेश में 'प्रेत और छाया' में भुजौरिया जी, मुक्तिपथ में ठाकुर विजयसिह और जहाज के पंछी में भादुड़ी मोशाई के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। भुजौरिया जी अर्थ के दास हैं और इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व ठाकुर लक्ष्मीनारायणसिह करते हैं। शारदा देवी और रूपा सदृश नारियों का शोषण करना ठाकुर साहब का स्वभाव परिलक्षित होता है। अंतिम उपन्यास में यह प्रवृति एक नए रूप में प्रस्तुत होती है। भादुड़ी मोशाई सफेदपोश मे कितने असामाजिक एवं अनैतिक कर्म करते हैं यह आवारा नायक के विनोदपूर्ण वार्तालाप से स्पष्ट होता है।

चतुर्थ श्रेणी में माधवीदीदी सदृश तेजोमय, कार्यशील, सच्चरित्र और धैर्यवान पात्र आते हैं। परिस्थितियों के अनुसार इन पात्रों का रूप भी परिवर्तित होता गया है। 'सन्यासी' की शांति, 'पर्दे की रानी' की शीला, 'प्रेत और छाया' की मंजरी माधवीदीदी के समान ही आदर्श पात्र हैं। मंजरी परिस्थितियों के कारण बदल जाती है, परन्तु उसके चरित्र में कोई दोष नहीं है। यही पात्र नारी जागरण और राष्ट्रीय जागरण के भावों से पूर्ण होकर निर्वासित में एक विचित्र रूप में आता है। 'मुक्तिपथ' में सुनंदा, 'सुबह के भूले में' गिरिजा और 'जिप्सी' में मनिया उर्फ मणिमाला इसी पात्र के विकसित रूप हैं। एक उपन्यास की कमी दूसरे उपन्यास में अवश्यमेव पूरी की गई है जैसे मनिया धन की कमी के कारण समाज कल्याण में असमर्थ रहती है यद्यपि यह असमर्थता स्थायी नहीं है परन्तु 'जहाज के पंछी' में जिप्सी की यही नायिका धन-धान्य से पूर्ण लीला के रूप में प्रस्तुत होती है। उसे मनिया के समान अर्थ के लिए विभिन्न प्रयास नहीं करने पड़ते। लीला 'जहाज के पंछी' में समस्त धन सहित जनकल्याण के लिए प्रस्तुत रहती है। इस प्रकार केवल निर्वासित के "महीप" को छोड़कर बाकी चार पात्रों का ही परिवर्तित रूप जोशी जी के उपन्यासों में मिलता है।

महीप एक क्रांतिकारी कवि है, प्रणय में असफल भी है और इस असफलता का कारण उसकी शरीरसंघटना है। उसका कद छोटा और मुखमंडल से बबुआ रूप ही सर्वत्र दृष्टिगत होता है। प्रणय क्षेत्र में असफल होने के कारण वह कविता एवं जीवन में विद्रोही बनता है। महीप की कमी जहाज के पंछी के आवारा नायक में पूर्ण होती है। आवारा नायक सुदृढ़ व्यक्तित्व के साथ शीलवान भी है। हास्यप्रियता इसका विशेष आभूषण है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह महीप का पूरक है।

निष्कर्ष :

मूल रूप में व्यक्तिपरक उपन्यास केवल प्रारंभिक स्थितियों में ही मिलते हैं। इन उपन्यासों में व्यक्ति के अंतर्जीवन का ही उल्लेख है परन्तु समाजोन्मुख अथवा समाजपरक उपन्यासों में व्यक्ति के अंतर्जीवन का बहिर्जीवन से योग किया गया है। इसी कारण पात्र भी प्रारंभिक कृतियों में मानसिक संघर्षों से त्रस्त हैं। पर परवर्ती कृतियों में उनका स्वस्थ एवं जनकल्याण की भावना से पूर्ण व्यक्तित्व मिलता है। यह व्यक्तित्व समाज के लिए उतना ही लाभकारी प्रतीत होता है जितना कि प्रारंभिक उपन्यासों का विकृत-व्यक्तित्व समाज विरोधी है। व्यक्ति का स्वस्थ विकास समाज में ही संभव है। समाज से पलायन करने पर वह एक विचित्र घुटन, कुण्ठा और अतृप्ति का दास बन जाता है। समाज में रहने पर उसकी विकृत भावनाओं का भी उदात्तीकरण हो सकता है। समाज के इसी स्वस्थ रूप की कल्पना जोशी जी ने निवेश स्थापना, जन संस्कृति केन्द्र आदि में की है। इस प्रकार परवर्ती उपन्यासों में जनकल्याण भावना से समन्वित पात्र स्वस्थ समाज की व्यस्वथा में संलग्न होते हैं और इसी कारण उनमें आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा बाह्य संघर्ष ही प्रमुख है।

: १० :

उपसंहार

कलात्मक-विवेचन

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक मौलिकता :

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास को नई दिशाओं में अग्रसर करने वाले उपन्यासकारों में जोशी जी का भी एक मुख्य स्थान है। हिन्दी उपन्यास के विकास की रूपरेखा उपस्थित करते हुए, हम यह देख चुके हैं कि यह नया उपन्यास युग उपन्यास विषयक विविध दृष्टि-कोणों से युक्त था। इनमें जोशी जी का नामोल्लेख जैनेन्द्र और अज्ञेय के साथ होता है और तीनों को सम्मिलित रूप में हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहा जाता है। अतएव जोशी जी के मौलिक पक्ष को समझने के लिए एक ओर यह आवश्यक है कि उन्हें प्रेमचन्द की पृष्ठभूमि में देखा जाय और दूसरी ओर उन अन्य उपन्यास-कारों की तुलना में भी, जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जाता है। आरंभ में हम प्रमुख तत्वों का आधार लेकर प्रेमचन्द की उपलब्धियों के साथ उनकी तुलना उपस्थित करते हैं।

कलात्मक दृष्टिकोण :

प्रेमचन्द ने अपने दृष्टिकोण को आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद नाम से अभिहित किया था। उनका तात्पर्य यह था कि कला जीवन की वस्तु है यथार्थ से युक्त न होने पर वह अपनी शक्ति खो देती है। यथार्थ के प्रति उनका आग्रह सामाजिकता के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमचन्द यह

आवश्यक समझते थे कि सामाजिक समस्याओं को उपन्यास में प्रमुख स्थान दिया जाय; किन्तु इसके साथ उन्होंने एक शर्त यह रख दी थी कि केवल यथार्थ का यथावत् निरूपण करना कलाकार का कार्य नहीं। कलाकार केवल वास्तव का चित्रकार न होकर एक वृहत सामाजिक दायित्व से युक्त व्यक्ति भी होता है। इस सामाजिक दायित्व की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे आदर्शों की प्रतिष्ठा भी अपनी कृतियों में करे जो सामान्यतः लोक के लिए मंगलकारी हैं और जिनकी ओर जीवन की गति होनी चाहिए। इस प्रकार प्रेमचन्द में हम आदर्श और यथार्थ के बीच एक समझौते की स्थिति पाते हैं।

इलाचन्द्र जोशी भी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए, यथार्थ और आदर्श दोनों शब्दों का उपयोग करते हैं, किन्तु उनकी धारणा प्रेमचन्द की धारणा से बहुत भिन्न है। उनकी मुख्य आस्था एक पक्के यथार्थवादी की आस्था है। यथार्थवाद का प्रथम मान्य तत्व तटस्थता है। प्रेमचन्द की कृतियों में आदर्शवाद की अनिवार्य उपस्थिति के कारण यह तटस्थता पूर्ण रूप में नहीं आ पाई है। जोशी जी अपने पात्रों के प्रति सहानुभूति आकृष्ट करने के लिए अथवा उनके जीवन से कुछ उपदेश निकालने के लिए यथार्थ से कभी विमुख नहीं होते। यथार्थ की उनकी धारणा भी अधिक व्यापक है, क्योंकि उन्होंने आंतरिक जीवन और बाह्यजीवन दोनों को समान महत्व दिया है। लोकमंगल का लक्ष्य प्रेमचन्द के समान जोशी जी भी स्वीकार करते हैं; किन्तु मंगल की सिद्धि के लिए वे कटु यथार्थ की स्वीकृति को प्रथम आवश्यकता मानते हैं। यह स्वीकृति भी तभी सार्थक है, जब वह विश्लेषण के द्वारा प्राप्त यथार्थ के सच्चे स्वरूप से युक्त हो। ज्ञान स्वयं मंगल आरंभ बिन्दु है। कुछ बाहरी आदर्श उपस्थित करके उनकी ओर जीवन की गति मोड़ने की बात न करके जोशी जी स्वाभाविक आदर्श का उल्लेख करते हैं, अर्थात् वह आदर्श जो यथार्थ स्थितियों से अपने आप विकसित होता है।

अपने दृष्टिकोण के निरूपण में जोशी जी ने अधुनातम ज्ञान का उपयोग किया है। आधुनिक ज्ञान की भी विविध दिशाएं हैं किन्तु जोशी जी उनके समन्वय का पथ अपनाते हैं। इस समन्वय में वे प्रत्येक वस्तु के उन अंशों को छोड़ देने का प्रयास करते हैं जो उनकी दृष्टि में अतिवादी, एकांगी अथवा अयथार्थमूलक हैं। प्रेमचन्द को एक विकासशील राष्ट्रीय चेतना परिचालित करती थी, जोशी जी ने चिंतन का पथ अपनाया है। कलादृष्टि में इन अन्तरों का प्रतिफलन दोनों के कृतित्व में भी हुआ है।

शैली :

उपन्यास शैली के क्षेत्र में जोशी जी बहुत कुछ प्रेमचन्द के ही अनुगामी कहे जायेंगे। दोनों ने अपनी वर्ण्य वस्तु कथा का आधार लेकर प्रस्तुत की है और कथाकार के रूप में दोनों के अपने-अपने गुण हैं। मनोविज्ञान को स्वीकार करके भी जोशी जी ने "मनोवैज्ञानिक उपन्यास" का पथ स्वीकार नहीं किया। उसमें तो कथानक लगभग वर्जित होता है; किन्तु जोशी जी ने ऐसा नहीं किया। कथानक के प्रति उनका अनुराग तो कभी-कभी उन पुराने उपन्यासकारों के समतुल प्रतीत होता है जो घटनाओं के बाहुल्य और चमत्कार पर विश्वास रखते थे। केवल दो उपन्यासों 'लज्जा' और 'जहाज का पंछी' में जोशी जी ने आत्मकथा की शैली अपनाई है; किन्तु वहाँ भी इतिवृत्त का स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ है। सभी कृतियों में बीच-बीच में आन्तरिक स्वगत भाषण जैसी युक्तियों का उपयोग भी वे करते गए हैं और सब मिलाकर एक नवीनता का आभास उत्पन्न करने में सफल होते हैं। वस्तु उनकी अवश्य नयी है; किन्तु उसके प्रकाशन की विधि नई नहीं।

कथानक :

कथानक के निर्माण में प्रेमचन्द ने सदा विशेष आदर्शों की

परिणति पर ध्यान रक्खा है। उन्होंने आधार बनाकर ही वास्तव में कथानक के समस्त सूत्र और बहुत पात्र भी संयोजित किए हैं। इसी लिए विलक्षण समीक्षक उन्हें यथार्थवादी न कह कर आदर्शवादी कहना ही उपयुक्त समझते हैं। जोशी जी की कृतियों में कथानक का निर्माण चरित्र की आवश्यकताओं के आधार पर किया गया है। ऐसी ही घटनाओं की उसमें योजना है जो चरित्र के उद्घाटन में सहायक हैं। आरंभिक कृतियों में तो मानों एक ही पात्र की कहानी मुख्य रूप से कही गई है और शेष सब पात्र उसके आनुषंगिक प्रतीत होते हैं। परवर्ती कृतियों में जब ऐसे पात्रों की संख्या बढ़ गई है जिनके चरित्र के उद्घाटन पर जोशी जी ने ध्यान दिया है तब भी चरित्र ही कथानक का आधार बना हुआ है।

चरित्र-चित्रण :

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द ने सामाजिक और नैतिक मान्यताओं को प्रधानता दी है। इसके विपरीत जोशी जी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर आन्तरिक चरित्र के निरूपण को अपना मुख्य लक्ष्य माना है। जिस प्रकार प्रेमचन्द के पात्रों का नैतिक और अनैतिक में विभाजन संभव है, उसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के पात्रों का विभाजन स्वाभाविक और विकृत की कोटि में होता है। प्रेमचन्द के पात्रों को बहुधा परिस्थितियाँ प्रेरित करती हैं किन्तु जोशी जी के पात्र अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुरूप परिस्थितियों को प्रेरित करते हैं। प्रेमचन्द का आग्रह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य पर न होकर एक प्रतिनिधि चरित्र के निर्माण में है, जोशी जी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को निरूपित करने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक वस्तु :

प्रेमचन्द ने अपना विशेष कौशल ग्रामीण जीवन के चित्रण में

दिखाया है। मध्यवर्ग के समाज की विशेषताएं भी उनकी कृतियों में स्थान पा सकी हैं। जोशी जी की समस्त सामाजिक वस्तु नागरिक जीवन की परिसीमा के अन्तर्गत आई है। नगर के मध्यवर्गीय समाज के बहुत से पक्षों का दिग्दर्शन उन्होंने किया है; किन्तु यहाँ यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द के सामाजिक चित्रण में जहां हमें एक स्वाभाविकता मिलती है, वहाँ जोशी जी द्वारा प्रस्तुत समाज ऐसा प्रतीत नहीं होता, वह प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु से अधिक समाजविषयक एक धारणा का बोध उत्पन्न करता है। संक्षेप में, जीवन से अधिक वहाँ हम सिद्धान्तों और नियमों से परिचित होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की तुलना में जोशी जी स्पष्ट रूप से नई दिशाओं की ओर चलने वाले उपन्यासकार सिद्ध होते हैं। एक शैली को छोड़कर अन्य बातों में उनमें अन्तर ही प्रधान है। यह भिन्न बात है कि इन नए परिवर्तनों को एक उपलब्धि के रूप में कहाँ तक स्थान दे सकते हैं; यह एक गंभीर प्रश्न है, इस पर हम कुछ चलकर विचार करेंगे।

इलाचन्द्र जोशी तथा अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार :

प्रेमचन्द के पश्चात् नई दिशाओं में बढ़ने वाले जैनेन्द्र और अज्ञेय मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार माने जाते हैं। उनके साथ परिगणित होकर भी जोशी जी दोनों से भिन्न हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय दोनों ही अपने-अपने ढंग से व्यक्तिवादी हैं। जोशी जी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को पूर्ण स्थान देते हुए भी व्यक्तिवादी नहीं कहे जा सकते। व्यक्ति के साथ सामाजिकता की भावना को भी समान स्थान देने का प्रयत्न उन्होंने किया है। क्रमशः सांस्कृतिक धरातल के प्रति उनका आग्रह बढ़ता गया है और अपने अहं मूलक पात्रों के विस्फोट में सामाजिकता के तत्व की ही स्थापना उन्होंने की है। अपने ऐसे पात्रों की तुलना उन्होंने स्वयं 'धूमकेतु' से की है, जो नक्षत्र जगत में एक गति वैचित्र्य उपस्थित

करते हैं। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न और अज्ञेय के शेखर को लेकर जोशी जी ने यह आरोप लगाया है कि उनके निर्माताओं ने उनके वास्तविक चरित्र के प्रतिकूल अपनी विशेष सहानुभूति का आच्छद प्रदान करके उन्हें कुछ दूसरे ही स्वरूप में प्रस्तुत किया है, ऐसे कार्य को वे छल समझते हैं अर्थात् जोशी जी इन दोनों उपन्यासकारों की तुलना में अधिक तटस्थता का दावा करते हैं और कलात्मक मूल्य की दृष्टि में (इन लेखकों के साथ की स्थिति जो भी हो) उनका यह दावा सहज स्वीकार किया जा सकता है।

जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ तथाकथित दार्शनिक चिन्तन का योग भी अपनी कृतियों में किया है। परिणामतः एक विचित्र उलझन से ग्रस्त होकर, उनके पात्रों के चरित्र अनबूझ पहेली के समान बन गए हैं। उनकी कृतियों की संपूर्ण वस्तुएं एक दुर्वह अस्पष्टता में आ गई हैं। जोशी जी कम से कम अस्पष्ट कहीं नहीं। उन पर यदि दोष लगाया जा सकता है तो यही, कि वे आवश्यकता से अधिक स्पष्ट हो गए हैं। जैनेन्द्र ने कथानक को कोई मूल्य नहीं दिया है। यह भी जोशी जी के विपरीत है। आन्तरिक चरित्र के उद्‌घाटन में जैनेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक का उपयोग नहीं दिया है। जोशी जी इस वैज्ञानिकता से कम विचलित नहीं हुए हैं।

एक आदर्श को लेकर चलने की विशेषता अज्ञेय में भी दृष्टिगोचर होती है और इस नाते वे भी जैनेन्द्र के समान जोशी जी से भिन्न हैं। किन्तु अज्ञेय की उपन्यास-कला बहुत सूक्ष्म उपादानों से निर्मित है। विवरण के स्थान पर उन्होंने निर्देशों और संकेतों को अधिक महत्व दिया है। उन्होंने मुख्यतः संवेदनों के चित्र अंकित किए हैं। इस कार्य के लिए उन्होंने काव्य की मूर्त विधान और प्रतीक शैली का सहारा लिया है तथा उपन्यास में काव्यात्मकता लादी है। इस प्रकार वे एक

नई और मौलिक शैली के विधायक हैं ; जोशी जी के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। आधुनिक मनोविज्ञान से सूक्ष्म परिचय का संकेत देते हुए भी अज्ञेय उसके उस उन्मुक्त प्रयोग को लेकर नहीं चले जो जोशी जी की कृतियों में हमें दृष्टिगोचर होता है।

जोशी जी और उल्लिखित दो उपन्यासकारों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जोशी जी एक अधिक विशद दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। जैसे प्रेमचन्द में बाह्य जीवन के चित्रण की प्रधानता कही जा सकती है, उसी प्रकार जैनेन्द्र और अज्ञेय की कृतियों में अभ्यंतर जीवन की प्रधानता का उल्लेख किया जाता है। जोशी जी अन्तर और बाह्य दोनों को समान रूप से अपनाते हैं और एक के बिना दूसरे को एकांगी समझते हैं। यथार्थ न तो केवल बाह्य है और न केवल अभ्यंतर। उसका स्वरूप तो दोनों के समयोग से निर्मित है। इसलिए जोशी जी फ्रायड के नाम पर मार्क्स को और मार्क्स के नाम पर फ्रायड को तिरस्कृत न करके दोनों को एक दूसरे का परिपूरक मानते हैं। आधुनिक ज्ञान के समन्वय की यह प्रवृत्ति उनके परवर्ती उपन्यासों में सांस्कृतिक धरातल से युक्त होकर कम से कम एक स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय तो देती ही है। यह बात जैनेन्द्र और अज्ञेय दोनों के विषय में आसानी से नहीं कही जा सकती। अन्य दृष्टियों से वे चाहे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो जावें किन्तु उनका यथार्थ और जीवन-दर्शन जोशी जी की तुलना में अपेक्षातर संकीर्ण ही ठहरता है।

क्या जोशी जी को मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहा जाय ?

यह प्रश्न इसलिए विचित्र प्रतीत होता है कि जोशी जी तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के नाम से प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु अनेक दृष्टियों से यह प्रश्न आवश्यक है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग समीक्षा में यदि उन्मुक्त रूप में किया जाता है तो अपने मौलिक अर्थ

को खोते हुए वे क्रमशः निरर्थक भी बन सकते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास की विशेषताओं का परिचय देते हुए हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुछ मौलिक विशेषताओं की उपस्थिति में ही किसी उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। वहीं हमने इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि ऐसी विशेषताएँ जोशी जी के उपन्यासों में नहीं मिलती। अतएव यह जानना अधिक संगत होगा कि जोशी जी का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक उपन्यास की रचना करना था भी, या नहीं। उपन्यासों के विषय में जोशी जी ने अपना जो दृष्टिकोण व्यक्त किया है, वह मनोवैज्ञानिक उपन्यास का दृष्टिकोण नहीं है। उसमें आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का समावेश अवश्य है किन्तु उसे नया यथार्थवाद कहना ही जोशी जी ने अधिक संगत समझा है। अपने इस नये यथार्थवाद का पर्याप्त विवेचन भी उन्होंने किया है जो उनके दृष्टिकोण का परिचय देने वाले अध्याय में हम देख चुके हैं। इसी यथार्थवाद में मनोविज्ञान केवल एक अंग है। यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोशी जी ने विशेष जोर दिया है, किन्तु वह इस लिए कि उसे उन्होंने विशेष उपेक्षित पाया। इतने से ही किसी उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कह देना उचित न होगा। और फिर फ्रायड, एडलर, युंग इत्यादि की मान्यताओं का उपयोग ही किसी उपन्यास को मनोवैज्ञानिक बना देने के लिए पर्याप्त नहीं। मानसिक वस्तु की प्रधानता के साथ एक विशेष शैली भी मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए आवश्यक है। जहां तक हम समझ पाए हैं; जोशी जी ने न तो इस शैली का ही दावा किया है और न अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार होने का। वे केवल एक उपन्यासकार हैं; किन्तु ऐसे उपन्यासकार जिसने अपने कृतित्व के विषय में चिन्तन किया है और नए दृष्टिकोण की उद्भावना की है। यह दृष्टिकोण मौलिक है तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास के दृष्टिकोण से भिन्न भी। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक

उपन्यास की विशेषताओं क आधार पर जोशी जी के कृतित्व की व्याख्या करना एक अनुचित कार्य होगा। जोशी जी का दृष्टिकोण केवल मनोविज्ञान से कहीं अधिक व्यापक है। और उसके लिए "मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार" की संज्ञा " अव्याप्ति दोष" से युक्त होगी।

साहित्यिक विवेचन :

विचार, चिन्तन और जीवन की दृष्टि से जोशी जी के उपन्यासों में हम निरन्तर विकास का सूत्र पाते हैं। 'लज्जा' से 'निर्वासित' तक अपने विकास की प्रथम स्थिति में उन्होंने चरित्र-गत समस्या से लेकर सामाजिक समस्याओं तक की लम्बी यात्रा तय कर ली है। परवर्ती उपन्यासों में सांस्कृतिक वस्तु को उन्होंने अपनी कृतियों की मूल वस्तु बना लिया है। सर्वोदय की भावना का आधार लेकर मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्तियों के उपयुक्त विकास द्वारा क्रमशः एक मांगलिक समाज के निर्माण का लक्ष्य इन कृतियों में प्रधान बन गया है। आधुनिक विश्व की जटिल समस्याओं और व्यापक सामाजिक विषमता तथा पतन का निरूपण करते हुए उनके समाधान और निराकरण का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। विशेषतः मंजरी की कोटि की नायिकाओं को लेकर और इस प्रकार युग-युग से दलित व्यक्तियों को नव-निर्माण का अग्रदूत बना कर उन्होंने यह धारणा प्रस्तुत की है कि विश्व-कल्याण का साधन अन्ततः वे ही करेंगे जो सबसे अधिक दलित और दमित रहे हैं। उनकी आत्माओं में सोए हुए सृजन के बीजों के प्रस्फुटित होने पर ही नए जीवन का पौधा पनपेगा। अतएव विशुद्ध रूप से विचारणा के क्षेत्र में, इस प्रगति को देखते हुए जोशी जी को एक प्रगतिशील-कलाकार कहना आवश्यक प्रतीत होता है। किन्तु क्या विकासशील चिन्तन ही कला में उत्कर्ष लाने के लिए पर्याप्त है ? क्या ऊँचे विचारों का समावेश कृति को अपने आप उच्चकोटि का बना देता है ? क्या महान सदाभिलाषा स्वयंमेव महान कलाकारिता का भी साधन कर लेती है ?

नहीं। केवल विचारों की उच्चता, कला का उत्कर्ष सूचित नहीं करती। यह सत्य है कि उत्तम कला में यदि उच्च विचारों और महान सदाकांक्षा का भी योग हो जाये तो वह अमर हो जायगी। यह भी सत्य है कि उच्च विचारों और महान सदाकांक्षा की उपस्थिति महानकला के लिए आवश्यक है। किन्तु महान बनने के पूर्व किसी साहित्यिक कृति के लिए कलात्मक होना आवश्यक है। कला का अपना स्वरूप और अपने मानदंड होते हैं। जोशी जी की ही कृतियों को लिया जाय तो 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित' उनकी अन्य कृतियों की तुलना में अधिक कलात्मक हैं। उनके परवर्ती उपन्यास विचारोत्कर्ष में इन कृतियों से उच्चतर होने पर भी कला दृष्टि से हीनतर नहीं। ऐसा क्यों है ?

इसके अनेक कारण हैं, जिनकी स्थिति विभिन्न धरातलों पर है। सबसे निम्न धरातल अभिव्यंजना के उपकरणों से निर्मित है। कलात्मक अभिव्यंजना की शैली न तो विशुद्ध वर्णन की शैली है और न लम्बे वक्तव्यों में बड़ी बातें कह देने की शैली। विचार प्रत्यक्ष रूप में नहीं; किन्तु पात्रों की जीवनगति से स्वयंमेव ध्वनित होकर कलात्मक बनते हैं। जोशी जी के परवर्ती उपन्यासों में सभी पात्र लम्बे-लम्बे भाषण देने के इतने शौकीन दिखाई देते हैं कि कृति का अधिकांश इन भाषणों से ही निर्मित हो जाता है। यह एक प्रकार से विविध विषयों पर विचारपूर्ण निबंध लिखकर, उन्हें किसी प्रकार एक शृंखला में गूंथ देना हुआ। उपन्यास का ढांचा तो इससे खड़ा नहीं होता। उपन्यास जीवन मांगता है, उसकी सैद्धान्तिक धारणा नहीं।

कथानक जोशी जी की कृतियों का प्रधान अंग है; किन्तु परवर्ती कृतियों में वह अत्यन्त शिथिल हो गया है। किसी भी प्रकार यहाँ वहाँ के सूत्र जोड़कर कुछ खड़ा कर देने से कथानक नहीं बन जाता। कथानक की अपनी गतिशीलता होती है और वह स्वयं लेखक की स्वेच्छा को

सहन नहीं कर सकता। कारण कुछ भी हो; किन्तु यह सत्य है कि अपने विकास की प्रथम स्थिति में इस क्षेत्र में जो कौशल जोशी जी ने प्रदर्शित किया है, वह परवर्ती कृतियों में तिरोहित हो गया है।

उपन्यास जीवन के तत्वों से निर्मित होता है, किन्तु 'मुक्तिपथ' में हम इसी नियम की अवहेलना पाते हैं। नायक आरंभ में नायिका की आत्मा में सृजन के बीज देखता है और उन्हें विकसित करने का प्रयास करते हुए उसे अपने साथ भगा ले जाता है। इसके पश्चात् काल का एक लम्बा व्यवधान होता है। इस व्यवधान के अन्त में दोनों एक आदर्श-उपनिवेश की स्थापना करके सार्वभौमिक उन्नति का साधन करने वाले जननायक के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और कहानी समाप्त हो जाती है।

वास्तविक जीवन अर्थात् उपन्यास की वास्तविक वस्तु तो प्रथम स्थिति से अंतिम स्थिति में उन्नयन की प्रक्रिया में सन्निहित है। किन्तु उसे ही काल के लम्बे व्यवधान में कालकवलित कर दिया गया है। यह कहना कि कोई हीन है और कुछ वर्षों बाद यह कहना कि जब वह उन्नत हो गया है, एक उपन्यास का निर्माण नहीं कर देता, किन्तु इस उपन्यास का निर्माण इसी प्रकार हुआ है। यह उदाहरण है, जो परवर्ती रचनाओं में जोशी जी की कला-शक्ति के अनवूझ ह्रास की सूचना देता है।

कला स्वाभाविकता की भी मांग करती है। पाठक ऐसी वस्तु स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता जो उसे आरोपित प्रतीत हो। उसका विश्वास जीतना लेखक का प्रथम कार्य है; किन्तु 'प्रेत और छाया' में पिता जिस भौंडेपन के साथ अपने पुत्र के समक्ष उसके विकृत होने का उद्घाटन करता है, वह सम्भवतः उपन्यास के लिए उपयोगी होकर भी पाठक को विचलित कर देने के लिए पर्याप्त है।

जोशी जी की यह समस्या केवल उनकी ही समस्या नहीं है।

वर्तमान हिन्दी साहित्य में कला का एक व्यापक अवमूल्यन दृष्टिगोचर होता है। अनेक प्रकार के तर्कों और विचारों का सहारा लेकर किसी रचना के उत्कर्ष के समर्थन में कभी यह बतलाया जाता है कि उसमें विश्वशान्ति की आकांक्षा अभिव्यक्त है और कभी यह कि उसमें व्यक्ति चेतना के एक नए स्तर का उद्घाटन हुआ है अथवा अलंकारों के नए प्रयोग हैं। इसका परिणाम यह है कि कला की चर्चा में कला की चर्चा के अतिरिक्त और सब कुछ आ जाता है। अतएव कला के मर्म के विषय में पुनः एक गहरे विचार की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है; यहां हम केवल उस आवश्यकता का उल्लेख ही कर सकते हैं, उसकी पूर्ति नहीं।

उपर्युक्त बातों का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जोशी जी के कृतित्व के उचित महत्व को हम स्वीकार नहीं करते किन्तु; व्यापक दृष्टि से कला मूल्य सम्बन्धी इस प्रश्न का जो उत्तर हम देंगे, जोशी जी के कृतित्व का मूल्याकन बहुत कुछ उस पर निर्भर करेगा। जोशी जी ने प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास को एक नई दिशा में बढाया। इसे हम निरूपित कर ही चुके हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों से उनके अन्तर और विचार के क्षेत्र में उनकी निरन्तर प्रगतिशीलता का भी उल्लेख हमने किया है किन्तु इन आधारों पर यह निष्कर्ष निकालने का हम कोई कारण नहीं देखते हैं कि कलाकार के रूप में वे प्रेमचन्द अथवा अन्य "मनोवैज्ञानिक" उपन्यासकारों से वे भिन्न हैं। एक स्वस्थ दिशा निर्देश को हम जोशी जी का मूल्य प्रदेय मानते हैं। अपने समसामयिकों की तुलना में उनका कृतित्व एक अपना मूल्य रखता है; जो अपने ढंग से अन्य कृतिकारों के कृतित्व से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

परिशिष्ट

संदर्भ-सूची

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल —हिन्दी-साहित्य का इतिहास ।

२ श्री शिवनारायणलाल श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास ।

३ श्री यज्ञदत्त शर्मा --हिन्दी उपन्यासकार ।

४ डा० देवराज उपाध्याय —आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान ।

५ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी —आधुनिक-साहित्य ।

६ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी —नया साहित्य : नये प्रश्न ।

७ श्री इलाचन्द्र जोशी विवेचना ।

८ साहित्य-सर्जना ।

९ विश्लेषण ।

१० देखापरखा ।

११ लज्जा ।

१२ संन्यासी ।

१३ —पर्दे की रानी ।

१४ प्रेत और छाया ।

१५ मुक्ति पथ

१६ निर्वासित

१७ सुबह के भूले

१८ जिप्सी

१९ जहाज का पछी ।

२० डा० महेन्द्र भटनागर—समस्या मूलक उपन्यासकार—प्रेमचन्द '

२१ साहित्य-सन्देश —आधुनिक उपन्यास विशेषांक ।

२२ आलोचना—अंक १३, १८, २२ ।

LIST OF ENGLISH BOOKS

1. Scott James	—	The making of the Literature
2. Ford. Madox Ford	—	The March of Literature.
3, W. H. Hudson	—	An Introduction to the study of Literature.
4. Aristotle	—	Poetics.
5. Ralph Fox	—	The Novel and the People.
6. Walter S. Campwell	—	The complete Novel.
7. Elizabeth A.Drew	—	The Modern Novel.
8. Joseph T. Shipley	—	Dictionary of the World Literature.
9. E. M. Forster	—	Aspects of the Novel.
10. Lesing	—	Lacoon.
11. In the Renascence of the English Drama	—	On play making.
12. John Edington Semonds	—	On Poetry as criticism of Life.
13. Edwin Muir	—	The Structure of the Novel.
14. Leon Edel	—	The psychological Novel
15. Robert Liddell	—	A Treatise on Novel.
16. Worsefold	—	Judgement in Literature.
17. Pinto	—	Crisis in English Poetry.
18. Murphy	—	The contemporary Schools of Psychology.